महाभारत का मर्म

श्री हिम्मतभाई पारीख स्मृति सद्भाव न्यास
कोट गेट, बीकानेर 33400।

महाभारत का मर्म

मनुभाई पंचोळी 'दर्शक'

अनुवाद

रामनरेश सोनी

प्रकाशक श्री हिम्मत भाई पारीख स्मृति सद्भाव न्यास
कोटगेट बीकानेर 334001

संस्करण : 1999

मूल्य : चिंतन-मनन

आवरण 'अडिग'

मुद्रक :
सांखला प्रिण्टर्स, सुगन निवास
चन्दनसागर, बीकानेर 334001

न्यास की ओर से हम इस बार अपने हितैषियो, शुभचिंतको, विभिन्न लोक सेवा मे सलग्न कार्यकर्ताओं तथा भारतीय सस्कृति मे रुचि लेने वाले विचारको, स्वाध्याय-प्रिय छात्रो-अध्यापको, साहित्य-प्रेमियो को गुजरात के यशस्वी उपन्यासकार व शिक्षाविद श्री मनुभाई पचोळी 'दर्शक' की चिंतन-प्रधान कृति 'महाभारत का मर्म' उपहार-स्वरूप प्रदान करते हुए हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव कर रहे है।

हमारे पिता स्व हिम्मतलाल पारीख बीकानेर आने से पूर्व गुजरात मे स्वाधीनता सग्राम मे भाग लेने वाले महान नेताओ के सम्पर्क-ससर्ग मे रहे, दु खी मानवता के आँसू पोंछने के लिए समाज-सेवा की अनेकानेक प्रवृत्तियों में संलग्न रहे, गुजरात के संतो साहित्यकारों की रचनाओं के स्वाध्याय से प्राप्त विचारों को अध्यापक बन कर हर माता-पिता और बालक-बालिका तक सम्प्रेषित-सिंचित संस्कारित करते रहे। बीकानेर आने के बाद भी हरिजनोद्धार, दीन-दुखियों की सेवा तथा श्रेष्ठ साहित्य के वितरण की दिशा मे उनकी गतिविधि जीवन की अतिम शाम तक चलती रही। उनकी स्मृति मे यह न्यास भी कुछ विनम्र प्रयास करने में लगा है पर उसे विज्ञापित करने में अतिशय सकोच का अनुभव करता है।

पिताजी की परपरा को आगे बढ़ाते हुए सन् ९१ मे हमने श्री मनुभाई पंचोळी 'दर्शक' की 'रामायण का मर्म' पुस्तक हिन्दी भाषी सुधी पाठकों को स्वाध्याय एवं चिंतन-मनन हेतु उपलब्ध कराई थी। उस पुस्तक को हजारों पाठकों ने पढ़ा। कइयों ने मुझे और मेरे साथियों को अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की कि रामकथा पर श्री दर्शक के दो व्याख्यान जहाँ एक नई दृष्टि प्रदान करते है, वहीं रामायण-रामचरितमानस की उन विशेषताओं से हमे व हमारे समाज को जोड़े रखते हैं, जिनसे व्यक्ति व समाज की गरिमा में अभिवृद्धि होती है। देश के अन्य राज्यों के हिन्दी भाषी पाठकों तक इस पुस्तक की महक पहुँची। आज जबकि हमारे पास उसकी प्रतियाँ उपलब्ध नहीं है, अब भी उस पुस्तक की माँग सतत बनी हुई है। इसको शीघ्र ही फिर से मुद्रित कराने की हमारी योजना है।

'रामायण का मर्म' पुस्तक के बाद 'महाभारत का मर्म' पुस्तक को प्रकाशित करके वितरण करने का निर्णय हम काफी पहले ले चुके थे और श्रद्धेय मनुभाई ने तो अपनी उदार स्वीकृति पहले ही प्रदान कर दी थी, पर अनूदित पांडुलिपि इधर-उधर हो जाने से काम मे बाधा आई। अतत दुबारा अनुवाद का श्रम उठाया गया और अब यह पुस्तक आपके हाथों पहुँच रही है। इसके लिए श्रद्धेय मनुभाई के हम आभारी है कि उन्होंने अपनी अनुमति से हमें कृतकृत्य किया।

रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति के दो ऐसे अनूठे गौरवग्रंथ है जिनसे भारतीय चिंतन-परम्परा और जीवन-दर्शन की झलक मिलती है। ये इतने विशाल

है और जीवन की इतनी विविधताओं का इनमें समावेश है कि सदियों से ये ग्रन्थ साहित्यकारों की रचनाओं के उपजीव्य रहे हैं।

महाभारत तो इतना विशाल है और इतिहास, धर्म, राजनीति, समाजनीति, आश्रम धर्म, परिवार धर्म, कूटनीति, दर्शन, काव्य, अध्यात्म, ज्योतिष, युद्धकला, आदि का इसमें इतना गहन विवेचन है कि यह विश्व का महानतम संदर्भ ग्रंथ माना जाता है। कहा भी जाता है कि जो अन्यत्र है वह सब इसमें है पर जो इसमें है वह अन्यत्र नहीं है। ऐसे हमारे गौरव-ग्रंथ पर सन् 78 में दिये गये तीन व्याख्यानों की यह पुस्तक हमारे लिए बहुत उपयोग सिद्ध होगी, ऐसी कामना है। मूल गुजराती में श्री यशवंत शुक्ल ने इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखा था, जिसे पुस्तक के परिशिष्ट में प्रकाशित किया गया है। इतने विद्वत्तापूर्ण प्राक्कथन कम ही देखने में आते हैं। सुधी पाठक इसका अवश्य ही आस्वादन करेंगे। परिशिष्ट में श्री मनुभाई की सरस्वती सम्मान से सम्मानित औपन्यासिक कृति 'कुरुक्षेत्र' पर सरदार पटेल विश्वविद्यालय वल्लभ विद्यानगर के व्याख्याता एवं नवोदित समीक्षक श्री नरेश वेद का विद्वत्तापूर्ण आस्वादन परक लेख भी हम प्रकाशित कर रहे हैं ताकि पाठक मूल कृति का आस्वादन करने हेतु आकृष्ट हों।

प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका बीकानेर के यशस्वी विद्वान पं. अक्षयचन्द्र शर्मा ने लिखी है। शर्मा जी विगत 40 वर्षों से कलकत्ते में रहते हुए दर्शन, साहित्य, इतिहास, धर्म, अध्यात्म व शोध आदि विविध क्षेत्रों में शोधार्थियों का मार्गदर्शन करते हैं तथा भारतीय चिंतन-परंपरा को आगे बढ़ाने में संलग्न हैं। उनकी लेखनी व वाणी का प्रसाद पूरे भारतवर्ष के विद्वानों को मिलता रहा है। उन्होंने अनेक ग्रंथों का प्रणयन व संपादन किया है, तथा अनेकानेक सेमिनारों-संगोष्ठियों का स्तरीय संयोजन किया है। भारतीय संस्कृति संसद से उनकी सम्बद्धता सुविदित है। कुछ अर्से पूर्व पं. शर्मा भारतीय विद्या भवन के आमंत्रण पर ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड व्याख्यान हेतु गए थे, जहाँ *'आधुनिक परिप्रेक्ष्य में रामायण'* पर आपके विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों की धूम मची थी। इस पुस्तक की भूमिका लिखने के लिए हम पं. शर्मा के प्रति आभार प्रकट करते हैं।

पुस्तक के अनुवाद के लिए हम भाई श्री रामनरेश सोनी का आभार व्यक्त करते हैं। वस्तुत अनुवाद ही नहीं, पुस्तक के प्रकाशन की सम्पूर्ण प्रक्रिया में वे हमारे साथ रहे हैं। जयपुर से श्री रमेश थानवी ने पुस्तक का आवरण बनवाने में तथा भावनगर के श्री भारतलाल पाठक तथा श्री घनश्यामभाई देसाई ने पुस्तक की पाडुलिपि तैयार कराने में हमें अपूर्व सहयोग दिया है अत: हृदय से आभार प्रकट करते हैं।

मुझे आशा है कि आप सभी इस पुस्तक का शांत-चित्त से आस्वादन करेंगे, तथा पढ़ लेने के बाद अपने विचार लिखकर हमें अवगत करायेंगे।

हिम्मत मेडिकल स्टोर	*दिलीप भाई पारीख*
कोटगेट, बीकानेर 334001	रमेश कुमार पारीख



स्व. हिम्मतलाल जी पारीख

सेवा, समर्पण व जन-जागृति के अग्रदूत



मनुभाई पंचोळी 'दर्शक'

गुजराती के यशस्वी कथाकार, शिक्षाविद व समाज सेवी

वागेश्वरी के कर्णफूल : मनुभाई पंचोळी 'दर्शक'

'महाभारत का मर्म' पुस्तक के व्याख्यानकर्त्ता व लेखक श्री मनुभाई पंचोळी 'दर्शक' गुजराती भाषा के यशस्वी उपन्यासकार, नाटककार, निबंधकार व शिक्षाविद हैं। आप साठ से अधिक पुस्तको के लेखक हैं, जिनमें शिक्षा, इतिहास, धर्म, सामाजिक तत्त्व ज्ञान, जीवनी, आत्मकथा, आलोचना, यात्रा वर्णन के साथ-साथ उपन्यास व नाटक सम्मिलित हैं।

गत वर्ष श्री दर्शक को 'कुरुक्षेत्र' उपन्यास पर वर्ष 1997 का सरस्वती सम्मान प्रदान किया गया था। पाँच लाख की राशि का अखिल भारतीय स्तर पर प्रारम्भ किया गया यह सम्मान आज देश का सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान है। गुजराती से पूर्व मलयालय, मराठी, हिन्दी, पंजाबी, उड़िया व उर्दू के छह साहित्यकारों को यह सम्मान दिया जा चुका है।

सन् 1985 में श्री दर्शक को तीन भागों में लिखे 'झेर तो पीधां छे जाणी-जाणी' पर भारतीय ज्ञानपीठ का मूर्ति देवी पुरस्कार दिया जा चुका है। केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने भी आपके 'सोक्रेटीज' उपन्यास को गुजराती की श्रेष्ठ कृति के रूप में सम्मानित किया था।

सन् '36 से श्री दर्शक की लेखनी अनवरत साहित्य-सृजन में निरत हैं। प्रारम्भिक तीन वर्षो में प्रकाशित कृतियाँ 'कब्रिस्तान', 'बंदीघर' और 'कल्याण-यात्रा' अधिक चर्चित नहीं हुई, पर 'बंधन और मुक्ति' ('39), 'दीप-निर्वाण' ('44), 'झेर तो पीधां छे जाणी-जाणी' (तीन भाग-'52, '58, '85), और 'सोक्रेटीज' ('77) नामक औपन्यासिक कृतियों का गुजराती साहित्य में बहुमूल्य योगदान है।

'झेर तो पीधां छे जाणी जाणी' नामक वृहदाकार उपन्यास को समीक्षकों पाठकों का भरपूर स्नेह मिला। स्वयं 'दर्शक' भी इसे अपनी श्रेष्ठ रचना बताते हुए संतोष का अनुभव करते है। इसमें शांति, मैत्री और करुणा जैसे श्रेष्ठ मानवीय गुणों की प्रस्थापना की कथा है। गोपाल बापा, अच्युत,

सत्यकाम और रोहिणी जैसे पात्रों के माध्यम से श्री दर्शक ने सत्य, प्रेम, करुणा व विश्व-मानव के प्रेम की अमर कथा प्रस्तुत की है।

'दीप-निर्वाण' उपन्यास में भारत के प्राचीन इतिहास का दिव्य-दर्शन है तो 'आपणो वैभव अने वारसो' पुस्तक मे भारतीय सांस्कृतिक चेतना का जीवंत चित्रण है। 'वागेश्वरी ना कर्णफूल' आलोचना की महत्त्वपूर्ण कृति है तो 'रामायण का मर्म', 'महाभारत का मर्म' तथा 'सर्वोदय और शिक्षण' आपकी चिंतन-प्रधान कृतियाँ हैं।

मनुभाई ने नाटक भी खूब लिखे हैं जो अनेक बार मंचित हुए हैं। इनमें 'परित्राण', 'अंतिम अध्याय', और 'गृहारण्य' कृतियाँ अग्रणी हैं। चाहे नाटक हों या उपन्यास, आलोचना हो या इतिहास, मनुभाई का समग्र साहित्य इनके जीवन-दर्शन से ओत-प्रोत रहा है, जिसकी सुदृढ़ आधार-शिला राष्ट्रपिता बापू और विख्यात शिक्षाविद् नानाभाई भट्ट के वैचारिक अवदान से निर्मित हुई है। इनकी रचनाओ में भारतीय इतिहास और मनीषा की भव्य झांकी विद्यमान है। उमाशंकर जोशी ने बहुत सही कहा था कि इतिहास और करुणा 'दर्शक' की दो आँखें है।

15 अक्टूबर, 1914 को सौराष्ट्र में जन्मे श्री मनुभाई की औपचारिक शिक्षा नवीं कक्षा से आगे नहीं बढ पाई। सन् '30 में आप महात्मा गांधी के नमक-सत्याग्रह में कूद पड़े और राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के सैनिक बने। सन् '32 से '42 के मध्य आपको चार बार जेल जाना पड़ा। जेल जीवन आपके व्यक्तित्व-निर्माण तथा स्वाध्याय के लिए एक खुली किताब बन गया। वहाँ आपने आत्म-चिंतन के द्वारा मानव-संबंधों के तानों-बानों इतिहास तथा राजनीति के अंतर्सम्बन्धों, दर्शन और संस्कृति के परिमाणों, शिक्षण और नवजीवन के सूत्रों का ज्ञान प्राप्त किया। साधन और प्रत्यक्ष अनुभव के बल पर शिक्षण तथा लोक जीवन की रचनात्मक प्रवृत्तियों की ओर आप सक्रिय हुए तथा उपन्यास, नाटक, समालोचना, निबंध, प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति के अनुशीलन पर लेखनी उठाई।

पूज्य बापू, नानाभाई और गिजुभाई जैसी विभूतियों का आपको सामीप्य-लाभ मिला और उनकी प्रेरणा से शिक्षण और समाज-सेवा की दिशा में आपकी गतिविधियाँ तीव्र हुई। प्रारम्भ में आप भावनगर की दक्षिणामूर्ति संस्था के गृहपति बने, बाद में नानाभाई भट्ट द्वारा स्थापित लोक

भारती संस्था से जुड़े। तब से लेकर आज तक आप लोक भारती सणोसरा से सबद्ध है। आपकी ही मेधा व लगन से यह सस्था डीम्ड यूनिवर्सिटी तक पहुँची है। आप इस सस्था के स्वप्न दृष्टा हैं, न्यासी है। शिक्षा जगत मे इस संस्था का अवदान शांति-निकेतन और श्रीनिकेतन से कत्तई कम नहीं है।

अपनी योग्यता के बल पर श्री मनुभाई ने जहाँ सार्वजनिक जीवन मे सम्माननीय पद पाया, गुजरात के शिक्षा मन्त्री के पद तक पहुँचे, वहीं साहित्य-सृजन के सर्वोच्च शिखर पर भी आज समारूढ है। ऐतिहासिक समझ और साहित्यिक विकास का आपमें अद्‌भुत समन्वय है। यो तो आपने विश्व-इतिहास का गहन अध्ययन किया है तथा देश-देशांतरों के विश्व-विद्यालयो मे वहाँ के इतिहासकारों के बीच बैठे है तथापि ग्रीस के इतिहास का आपका अध्ययन तलस्पर्शी कहा जा सकता है।

श्री दर्शक के उपन्यासो की एक विशेष बात का उल्लेख करते हुए इनके एक अध्येता ने लिखा है कि 'इनके दर्शन को व्यक्त करने वाली इनकी औपन्यासिक कृतियों में एक बात विशेष रूप से प्रकट होती है कि मनुष्य तत्त्वत शाति और अहिंसा का पुरस्कर्त्ता है। वह यह जानता है कि युद्ध कितनी जघन्य घटना होती है, फिर भी मनुष्य उसके बगैर रह नहीं पाता। मानव जाति के लिए युद्ध एक अनिवार्य अभिशाप है। मानव-जीवन ऐसे युद्ध व हिंसा से ग्रस्त्त होते हुए भी मनुष्य जीवन का परित्याग नहीं कर देता क्योकि उसके जीवन में इनकी प्रतिरोधक शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं, और वे हैं - प्रेम और धर्म।'

'महाभारत का मर्म' के तीन व्याख्यानों में भी उक्त विचार पर गहन चिंतन-मनन सामने आया है। सन् '78 के ये व्याख्यान पाठको को यह शाश्वत विचार सदैव प्रदान करता रहेगा कि अन्याय और अहंकार का साथ विनाश की ओर ले जाता है, जबकि प्रेम और धर्म का साथ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति को विजयी बनाता है।

मुझे आशा है कि आने वाले अर्से मे श्री दर्शक की लेखनी से और भी युगांतरकारी रचनाएँ सामने आएँगी।

भूमिका

स्वागताय विनम्रवाक्

'विश्व की विविध सम्कृतियाँ जीवन के विविध पक्षो पर अपना पुरुषार्थ उँडेलती है। ग्रीको ने सौन्दर्य पर, असीरियनों ने युद्ध पर, इजिप्शियनों ने देवतावाद पर, चीन ने सतुलित समाज-जीवन पर और अन्त में यूरोपीय सस्कृति ने बुद्धि का चरमोत्कर्ष करके प्रकृति पर साम्राज्य स्थापना करने पर केन्द्रित किया है।

भारतीय सस्कृति ने अपना पुरुषार्थ धर्म के अनुसन्धान पर व्यय किया है।

सौन्दर्य ढल जाता है, युद्ध के रथ टूट जाते हैं, देवता दुर्बलो के घातक बन जाते हैं, सतुलित ससार भी अतत क्षणभगुर है और प्रकृति पर की गई जबरदस्त विजय भी मदोन्मत्तता के परिणामस्वरूप सहार मे परिणत हो सकती है।' —महाभारत का मर्म

पृष्ठ 42-43 से

विश्व की संस्कृतियों के उत्थान-पतन की यही करुण-दारुण कहानी है। भारतीय संस्कृति की चिरन्तनता के मूल में इसकी धर्म निष्ठा है—जो ऐहिक व आमुष्मिक जीवन में अभ्युदय एवं निःश्रेयस के मध्य संतुलन बनाने से सरोकार रखती है। इसी सामरस्य में सहिष्णुता है, इसी में नये नये परिवर्तनों के मध्य सनातनत्व की सतत प्रवाही नितनीरा सरिता की स्थिति है।

'महाभारत' भारतीय संस्कृति के अक्षयवट की ऐसी ही जटिल, बहुआयामी, गगनगामी-भूमुखी गाथा है, जिसे हम कभी इतिहास-पुराण कहते हैं, कभी महाकाव्यों के मध्य महाकाव्य, कभी पचमवेद और कभी समग्र साहित्य की संज्ञा प्रदान करते हैं। तत्पश्चात् ऐसा अनुभव करते हैं—अभी हम महाभारत के फैलाव को, उसकी गगनस्पर्शी ऊँचाई को और अतल गहराई को समेट नहीं पाये हैं।

महाभारत की अन्तःसाक्षी

(अ) पुराणसंहिता पुण्या कथा धर्मार्थसंश्रिता
इतिवृत्तं नरेन्द्राणामृर्षीणां च महात्मनाम्।

उग्रश्रवा ने ऋषियो से कहा—'क्या मै आप लोगो को धर्म और अर्थ के गूढ रहस्यों से युक्त पुराणो की कथा सुनाऊँ अथवा उदारचरित ऋषियो एव सम्राटो का इतिहास ?'

(आ) द्वैपायनेन तत् प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा ऋषि—आप हमें सुनाइये कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास के द्वारा कहा हुआ पुराण, चित्रविचित्र आख्यान, वेदार्थ भूषित नाना शास्त्र से उपबृंहित भारतस्येतिहास।

(इ) इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवती सुत।

सत्यवतीनदन भगवान् व्यास ने इस लोकपावन पवित्र इतिहास का निर्माण किया है।

(ई) प्राचीन काल में सब देवताओ ने इकट्ठे होकर तराजू के एक पलड़े पर चारों वेदों और दूसरे पर महाभारत को रक्खा परन्तु यह रहस्यमय चारों वेदों की अपेक्षा अधिक भारी निकला, तभी से संसार में यह महाभारत कहा जाने लगा।

सत्य के तराजू पर तौलने से यह ग्रन्थ महत्त्व, गौरव अथवा गंभीरता में वेदों से अधिक सिद्ध हुआ है।

तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते।
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं यतोऽधिकम्।।

(आदिपर्व, 1 अध्याय, 273)

(उ) भारतीय कवियों के लिये यह जय काव्य, भारत या महाभारत सचमुच उपजीव्य ग्रन्थ है—जिनके कारण हजारों कवि अद्यपर्यन्त अपने लिये बदलते सदर्भों में नये नये विषय प्राप्त कर रहे हैं—केवल कवि ही नहीं कथाकार भी विपुल सामग्री प्राप्त कर नव सर्जना कर रहे है।

सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुम.।।

(आदिपर्व, 1 अध्याय, 92)

संसार में जितने भी श्रेष्ठ कवि होंगे उनके काव्य के लिये यह मूल आश्रय होगा, यानी यह उपजीव्य होगा। जैसे मेघ सम्पूर्ण प्राणियों के लिये जीवनदाता है, वैसे ही यह अक्षय भारत-वृक्ष है।

भारतीय संस्कृति का विश्वकोष है यह

'महाभारत' को केवल एक ग्रन्थ या एक महाकाव्य कहने भर से इसके बारे मे कुछ भी नही समझा जा सकता। असल मे, जैसा कि सुप्रसिद्ध जर्मन पडित विण्टरनित्ज ने कहा है, महाभारत अपने-आप में एक समग्र साहित्य (Whole Literature) है।...

असल में महाभारत उस युग की ऐतिहासिक, नैतिक, पौराणिक, उपदेशमूलक और तत्त्ववाद सम्बन्धी कथाओ का विशाल विश्वकोश है। भारतीय दृष्टि से महाभारत पाँचवा वेद है, इतिहास है, स्मृति है, (शङ्कराचार्य) शास्त्र है और साथ ही काव्य है।.. .

उज्ज्वल चरित्रों का वन

महाभारत उज्ज्वल चरित्रों का वन कहा जा सकता है। यह कवि-रूप माली का यत्नपूर्वक सँवारा हुआ उद्यान नही है जिसके प्रत्येक लता-पुष्प-वृक्ष अपने सौन्दर्य के लिए बाहरी सहायता की अपेक्षा रखते है, बल्कि यह अपने-आपकी जीवन शक्ति से परिपूर्ण वनस्पतियों और रचनाओ का अयत्नपरिवर्धित विशाल वन है जो अपनी उपमा आप ही है। मूल कथानक में जितने भी चरित्र हैं वे अपने-आप में ही पूर्ण है। भीष्म जैसा तेजस्वी और ज्ञानी, कर्ण जैसा गंभीर और वदान्य, द्रोण जैसा योद्धा, बलराम जैसा फक्कड़, कुन्ती और द्रौपदी जैसी तेजोद्दीस नारियाँ, गान्धारी जैसी पति-परायणा, श्रीकृष्ण जैसा उपस्थित-बुद्धि और गंभीर तत्त्वदर्शी, युधिष्ठिर जैसा सत्यपरायण, भीम जैसा मस्तमौला, अर्जुन जैसा वीर, विदुर जैसा नीतिज्ञ चरित्र अन्यत्र दुर्लभ है।....

महाभारत का शायद ही कोई चरित्र महलों के भीतर पलकर चमका है। इसके सब पात्र तूफान के भीतर से गुजरे है। अपना रास्ता उन्होंने स्वयं बनाया है और अपनी रची हुई विपत्ति की चिन्ता में हँसते-हँसते कूद पड़े हैं। महाभारत का अदना से अदना चरित्र भी डरना नहीं जानता। किसी के चेहरे पर कभी शिकन नहीं पड़ने पाती। पाठक महाभारत पढ़ते समय एक जादू-भरे वीरत्व के अरण्य मे प्रवेश करता है जहां पद-पद पर विपत्ति है, पर भय नहीं है, जहां जीवन की चेष्टाएँ बार-बार असफलता की चट्टान पर टकरा कर चूर-चूर हो जाती है, पर चेष्टा करने वाला हतोत्साह नहीं होता। जहाँ

गलती करने वाला अपनी गलती पर गर्व करता है, प्रेम करने वाला अपने प्रेम पर अभिमान करता है और घृणा करने वाला अपनी घृणा का खुल कर प्रदर्शन करता है। वहाँ सरलता है, दर्प है, तेज है, वीर्य है, महाभारत की नारी अपने नारीत्व पर गर्व करती है, पुरुष इस अभिमान की रक्षा के लिए अपने को मृत्यु के हाथ सौंप देता है। प्राचीन भारत का, उसके समस्त दोष गुणो के साथ, ऐसा सुन्दर य्यच्चा निदर्शन दूसरा नहीं।'

—**हिन्दी साहित्य की भूमिका**
महाभारत क्या है ? में उद्‌धरण
डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी

ये तीन व्याख्यान

ऐसी कालजयी कृति महाभारत पर गुजराती में दिये गए ये तीन व्याख्यान हैं। व्याख्याता हैं—इस महोदधि में मन्थन करने वाले यशस्वी साहित्यकार श्री मनुभाई पंचोली 'दर्शक'। इनका आयोजन शिक्षाशास्त्री, बाल शिक्षा के क्षेत्र में अभिनव युग के एक स्रष्टा श्री नानाभाई भट्ट की पुण्य स्मृति में किया गया था। इस 'महाभारत का मर्म' के रूपान्तरकार हैं—गुजराती साहित्य के अहर्निश आस्वादक श्री रामनरेश सोनी। यह अनुवाद हिन्दी पाठकों को प्रवाही हिन्दी में मौलिक-सा मग्न करने वाला है।

पहला व्याख्यान

इन व्याख्यानो में पहला व्याख्यान इस एक केन्द्र बिन्दु पर केन्द्रित है कि अभिमान की प्रचण्डता भयावह, नाशकारी और सर्वग्रासी होती है।

दुर्योधन अहंकार रूपी महावृक्ष है। कर्ण उसका तना है। दु शासन रूपी उसमें फल-फूल लगे हैं। इस अहंकार रूपी वृक्ष का मूल है अदूरदृष्टि राजा धृतराष्ट्र।

महाभारत मे वर्णित विनाश का मूल दुर्योधन का अभिमान था। दुर्योधन का सारा चरित्र इस अभिमान के दुर्वह भार को लिये चलता है।

अभिमानी के आँखें नही होतीं। यह अन्धता सर्वत्र व्याप्त है।

इसी के विलोम एक चरित्र है—धर्मराज युधिष्ठिर का, जो किसी भी कीमत पर धर्म को छोड़ने के लिये तैयार नहीं। 'यतो धर्मस्ततोजयः' यही निष्कर्ष है।

दूसरा व्याख्यान

महाभारत में विविध प्रकार के धर्मों का वर्णन-विवेचन दिया गया है—कुलधर्म, जाति धर्म, राज धर्म, नारी धर्म, वर्ण धर्म, स्वधर्म, आश्रम धर्म आदि-आदि। इन सब में समय-समय पर खींचतान होती रहती है।

महाभारत की कथा का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है मनुष्य के लिए धर्म पालन में भगवद निष्ठा और भगवद् भक्ति दुःख रूपी समुद्र से तैरकर बाहर निकलने के लिये नौका के समान है।

महाभारत के अनेक पात्र धर्म की जड़ता के शिकार हैं। कई इतना तो जानते है कि स्वामिभक्ति हो, मनुष्य अर्थ का दास है—पर, यह अर्थ कितना अनर्थ कर रहा है—इसकी चेतना नहीं। भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य इस संकीर्ण धर्म जड़ता के शिकार हैं।

श्रीकृष्ण उस काल के क्रान्तिकारी थे। नियमो और उनके परिपालन का महत्त्व स्वीकार किया जाए तथापि कालग्रस्त अथवा जड़धर्म को चुनौती देने की स्वतंत्र बुद्धि उन्होंने ही पाई है। अतः यही घोषणा है—

'जहाँ कृष्ण है, वहाँ धर्म है;
जहाँ धर्म है, वहाँ विजय है।'

व्याख्याता का यह निष्कर्ष मानवीय महिमा की अमर घोषणा है—'मनुष्य भूमिति की आकृति नहीं है अपितु भगवान द्वारा रचित मुक्तामुक्त छंदमयी कविता है।'

तीसरा व्याख्यान

इस व्याख्यान मे सरल मधुर ढंग से गीता की सरल व्याख्या प्रस्तुत की है।

गीता बुद्धि को शांत स्थिर करके कर्म करने की प्रेरणा देती है। कर्त्ता में अभिमान न हो, मोह आसक्ति न हो तो कर्म बाँधते नहीं।

गीता नम्रतापूर्वक लेकिन दृढ़ता के साथ कहती है कि मोक्ष के लिये संन्यास अनिवार्य नहीं, अपितु ज्ञान आवश्यक है। निर्लेपता तथा अहंकार शून्यता आवश्यक है, लेकिन कर्म त्याग आवश्यक नहीं।

व्याख्याता ने स्पष्ट घोषणा की है—'ससार का परम सौभाग्य है कि गीता किसी सम्प्रदाय विशेष या अनुगम के लिए नहीं लिखी गई। इसकी विश्वव्यापी लोकप्रियता तथा आदर का कारण यह है कि यह वासना से मुक्ति हेतु संघर्ष करने वाले, धर्माश्रय तलाशने वाले, सबका कल्याण चाहने वाले प्रत्येक देश एवं काल के मनुष्य के लिये है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सारा दायित्व वहन करने वाले श्री दिलीप भाई पारिख के प्रति हम कृतज्ञ हैं, जिनके कारण इस मार्मिक कृति 'महाभारत के मर्म' के माधुर्य से हिन्दी भाषा भाषी आप्यायित होने का सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं।

इस उपलक्ष्य से मै व्यक्तिशः आभारी हूँ कि मुझे मूल गुजराती के साथ हिन्दी में इसके परिशीलन का सुअवसर मिला है।

वाणी निलयम्
सादुल कॉलोनी, बीकानेर
दीपमालिका वि. सवत् 2055

अक्षयचंद्र शर्मा

दो शब्द

पृज्य नानाभाई के नर्पण स्वरूप दिये गए ये व्याख्यान प्रकाशित हो रहे हैं, तब इनमें विशेष कुछ भी जोड़ने का है नहीं।

महाभारत महोदधि के समान है। इसका अवगाहन अनेक दृष्टि से चलता रहे, यही अभीष्ट है।

मेरा प्रयोजन तो यथाशक्ति बस इतना ही बताना था कि इस अनुपम महाग्रंथ का नवनीत आखिरकार क्या है। अगर इस पुस्तक से सर्वसाधारण के मन में महाभारत का पुन पुनः पारायण करने की उत्कंठा जागृत हो सके तो मै अपने इस प्रयत्न को सफल मानूँगा।

इतिहास और धर्म के बारे में ऐसा माना जाता है कि ये अलग-अलग, सम्बन्ध-विहीन विभाग है, पर ये ऐसे है नहीं। धर्म जो प्रतिपादित करता है, यदि काल उसका समर्थन न करे तो धर्म का पुनः चिंतन करना पड़ता है। इसी भाँति इतिहास की वास्तविकताएँ महज ईंट-चूने या कंकर-पत्थरों का ढेर हों और उनसे कुछ भी ठोस निष्कर्ष प्राप्त न हो तो काता-कताया सब बेकार चला जाता है।

ऐसे इतिहास और धर्म की जब काव्य के माध्यम से प्रस्तुति होती है तो संसार कवि को ऋषि कहकर पुकारता है। व्यासजी ऐसे ही महर्षि थे। अगर इन व्याख्यानों के द्वारा व्यासजी के महर्षित्व की झाँकी देखने को मिलती है तो मैं अपने को सौभाग्यशाली समझूंगा।

सौजन्यशील यशवंतभाई ने इस पुस्तिका का प्राक्कथन लिख कर कई रस-बिन्दु स्पष्ट किये हैं। इस परिश्रम के लिए मै उनका आभारी हूँ।

मनुभाई पंचोळी 'दर्शक'

27-2-78

पहला व्याख्यान

पूज्य नाना भाई की पुण्य-स्मृति में यह व्याख्यान देने का अवसर जो मुझे मिला है, इसे मैं अपने जीवन का परम सौभाग्य मानता हूँ।

सन् 1934 में जब मैं उनके पास गया था तब नितांत अनगढ़ छोकरे जैसा था। मेरा अध्ययन अंग्रेजी की पाँचवीं कक्षा अर्थात् आज की नवीं कक्षा जितना था। ज्ञान की कहीं कोई बुनियाद पड़ी ही न थी। सत्याग्रह आंदोलन में भाग लिया था, पर वह भी उत्तरदायित्व-युक्त न था। बेशक जिज्ञासा थी, पर गहराई तक उतर कर धीरज के साथ परिश्रम करने की आदत नहीं थी। बेशक बुद्धि थी, पर उसके विकास हेतु वांछित नम्रता न थी।

नानाभाई के संसर्ग में आने पर उस वय में मैं अपनी कमियों को जान सका और कुछ हद तक उन्हे दूर कर सका। उस समय दक्षिणामूर्ति में नानाभाई अन्य सभी से कुछ अलग थे। उनकी सादगी, मितभाषिता, घड़ी के जैसी नियमितता, विद्यार्थी के प्रति लाड-दुलार, तथापि उसके दोष उसे स्पष्ट बता देने की दृढ़ता, सार्वजनिक द्रव्य की देव-द्रव्य जैसी सँभाल कर रखने की शुचिता, हर तरह की आत्यंतिक बातों या भावनाओं के प्रति सावधानी-युक्त वृत्ति, शारीरिक श्रम वाले घर के काम स्वयं करने का आग्रह और उमग—इन सभी सद्गुणों ने मेरे मन में उनके प्रति पूज्य-बुद्धि और श्रद्धा उत्पन्न की। परिणामतः मेरे विकास के लिए जो नम्रता आवश्यक थी, कुछ हद तक वह आ सकी।

मैंने देखा कि उनका जीवन एक सवादी, ध्वनिपूर्ण, आवर्तित, प्रवहमान काव्य के जैसा है।

और इन सब के केन्द्र में है उनकी हिन्दू धर्म से संबंधित आश्चर्यचकित कर देने वाली तलस्पर्शी समझ-शक्ति।

मैंने देखा कि सब की तरह उनके हिस्से भी जीवन में सुख-दु ख औरों की अपेक्षा कुछ ज्यादा ही आए। शरीर के विविध कष्टों—क्षय, दमे, बवासीर ने उन्हें भी परेशान किया। अकारण ही वे नासमझी के पात्र बने। उनके अगल-बगल, उनके चहेते और इज्जत देने वाले मित्रों से भी वे अलग-थलग पड़ गए। फिर भी उनकी चित्तवृत्ति अडिग, सौहार्दपूर्ण और प्रत्येक के प्रति न्यायपूर्ण रही। मैंने देखा कि उनमें सूक्ष्म-बुद्धि थी

पर वे बुद्धिवादी न थे, भक्ति थी पर वे जड़भक्त न थे, प्रशासक थे पर उनमें शासक वृत्ति न थी। अतएव मैंने तय किया कि उनके जितनी ऊँचाई पर पहुँचा हुआ, फिर भी नीचे रहने वालों के प्रति ममता रखकर गति प्रदान करने वाला पुरुषार्थी शायद ही मिलेगा। इसलिए सारा सकोच त्याग कर मैंने अपनी जिज्ञासा श्रद्धापूर्वक उनके सम्मुख मुक्त रूप से प्रकट कर दी।

नानाभाई ने भी उसे प्रोत्साहन दिया। साधारणतया वे नौ-साढ़े नौ बजे सो जाते। नौ का डंका बजता कि उनकी पलकें भारी होने लगतीं। पर उस समय भी मुझे उन्होंने कभी यह नहीं कहा—'अच्छा, अब कल बात।'

उनके इस स्नेह या कृपा का पूरा बदला चुका पाना हर्गिज असभव है। अन्न का बदला अन्न देकर चुकाया जा सकता है, जलदान का बदला प्याऊ बनवा कर उतारा जा सकता है, लेकिन ज्ञान, जो प्रकाश फैलाता है, उसका बदला नही चुकाया जा सकता। क्योंकि ज्ञान अमाप है, अपरिमेय है। अनृण होने का प्रयास किया जा सकता है, फकत प्रयास ही।

महाभारत पर यह व्याख्यान देने का दायित्व उस ऋण को चुकाने का एक प्रयास-मात्र है।

नानाभाई को महाभारत प्रिय था, बल्कि कहना चाहिए कि महाभारत के साथ उनका नाड़ी-संबंध था। एक बार बातें करते हुए उन्होंने कहा था कि 'श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र में क्या सचमुच गीता का उपदेश दिया था, यह नक्की करने की मुझे कत्तई जरूरत नही दिखती। अपने महाभारत में, अपने मन के कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण सारथि के रूप में बैठे है और हमारी परेशानियों का समाधान करते हैं, यह अनुभव मेरे मन में गीता के पठन-पाठन हेतु पर्याप्त है। उसकी ऐतिहासिकता गौण है, उसके तथ्य का सनातन अनुभव, यही उसका अमृत है।'

उनका विश्वास था कि हमारे धर्मक्षेत्र (कुरुक्षेत्र) में प्रकट होने वाली परेशानियों अथवा दारुण मनोव्यथाओं मे महाभारत प्रकाश-दीप बन सकता है। तभी तो एक विशाल संस्था के सचालन और व्यवहार के दाव-पेचों में आकंठ डूबे रहने पर भी वे महाभारत के आर-पार तीन बार निकले और महाभारत के पात्रों का महकता हुआ थाल तैयार करके गुजरात के किशोर-किशोरियों के सम्मुख रखा।

महाभारत के उन पात्रों ने वाचक किशोर-किशोरियो पर ही नहीं, बड़ी उम्र के प्रौढ़-पाठकों पर भी जादू किया था, यह बात सब जानते हैं।

उनमे आने वाले संवादो की रंग-छटा, जीवन की आधारभूत समस्या के ठीक बीच में प्रविष्ट होकर सातों चक्रों के ताले तोड़ डालने वाली वाक्‌प्रभा लबे समय तक पढी-सुनी जाती रहेगी। पाचाली, सूतपुत्र कर्ण, द्रोण, अश्वत्थामा, कुती-गाधारी—ये मात्र पुस्तिकाएँ नहीं अपितु खूब घोंटकर तैयार की गई रसायन-वटियाँ हैं।

महाभारत का पारायण, श्रवण-कीर्तन और स्मरण-सेवन होता रहे, ऐसी नानाभाई की इच्छा थी। हमारा भारतीय समाज उसमें सन्निहित अमृत-तत्त्व खो न दे, इसकी उन्हें बड़ी चिंता थी। अतएव उनकी सस्था मे रहने वालो और शिक्षा ग्रहण करने वालो को यह बात भलीभाँति स्मरण दिलाने का यह काम मैंने अपने कमजोर हाथों में लिया है। अगर उसमें कोई दोष रह जाए तो इस अल्प-अभ्यासी को सब क्षमा कर दें।

महाभारत यूरोप के दो महाकाव्यों ईलियड और ओडेसी की तुलना में आठ गुना विस्तार वाला ग्रंथ है। इसके विस्तार की कल्पना तो वही कर सकता है जिसने ग्वालंदो से आगे पद्मा, गंगा के दोनों किनारों को अदृश्य कर देने वाली सागर जैसी विशाल अनर्गल जल-राशि को देखा हो। गंगा और ब्रह्मपुत्र दोनों महानदियाँ हिमालय के उत्तरी-दक्षिणी दोनो ओर की जलराशि, माटी और वनस्पति को लेकर ग्वालंदो के आगे मिलती हैं। इन दोनों नदियों को ही पृथ्वी के मानदंड सदृश हिमालय की प्रदक्षिणा करने का गौरव जाता है। उस गौरव में यमुना, गंडकी, शोण, सरयू, कोशी आदि कितनी ही नदियों ने अपनी तमाम विशेषताएँ समर्पित करके सागर जैसी धीरता और विशालता का अनुभव किया है।

महाभारत भी ऐसी ही वैदिक, औपनिषदिक, श्रमण, अनार्य, असुर, व्रात्य, दास, शबर आदि कितनी ही संस्कृति-सरिताओं के मिलन से बनी भव्य जलराशि है—इसकी महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है—

> यथा समुद्रो भगवान्यथा मेरुर्महागिरिः।
> उभौ ख्यातौ रत्ननिधि तथा भारतमुच्यते।। (आदिपर्व 5627)

जिस तरह से समुद्र और हिमालय रत्ननिधि के भडार है उसी तरह महाभारत भी रत्ननिधि की राशि है।

अनाश्रित्यैदमाख्यान कथा भुवि न विद्यते।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम्।। (आदिपर्व 2.240)

जिस प्रकार आहार के आधार बिना शरीर धारण संभव नहीं है, उसी प्रकार इस आख्यान के आश्रय बगैर शायद ही पृथ्वी पर कोई कथा होगी।

वर्तमान महाभारत आज से दो हजार वर्ष पहले का तो है ही, उसके मूल कथा-अंश तो उससे भी हजार-पंद्रह सौ वर्ष प्राचीन हैं; फिर भी इस पुराने कवि की आत्मप्रतीति और आत्मश्रद्धा इन श्लोकों मे अनुगुंजित है। इस आत्मश्रद्धा मे किसी तरह की अतिशयोक्ति अथवा आत्मप्रशंसा नहीं है, यह बात कालिदास, भास, माघ, भट्टनारायण, ज्ञानेश्वर, श्री अरविंद, कवि ठाकुर रवीन्द्रनाथ जैसे मनीषियों से लेकर आज तक के छोटे-बड़े कवि कहते आए हैं। जिस तरह हिमालय सब को जल देता है उसी तरह महाभारत ने भारत की तमाम भाषाओं को प्रेरणा-जल प्रदान किया है। यहीं पर मुझसे पूर्व महाभारत पर व्याख्यान देने वाले हमारे सुकवि उमाशंकर जोशी चाहे जितने नये जमाने के हों, पर 'प्राचीना' और 'महाप्रस्थान' लिखे बिना कवि को संतोष नहीं मिला।

इसका एकमात्र कारण है महाभारत की उत्तुंगता, व्यापकता और जीवनार्णव का तलस्पर्शी संचार।

ग्वालंदो से आगे की महाजलराशि दोनों किनारों को नजर से ओझल कर देती है, पर उसके गंतव्य, उसके निर्वाण, याकि उसके प्रयति स्थान में यह अतुल जल-समृद्धि अथवा इसका वेग कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। इसका गंतव्य स्थान तो महासागर ही है। अनेक वनों, संस्थानों एवं संस्कृतियों से गुजरता हुआ, विविध पहाड़ो या पठारों से जल-कर-भार वसूल करता, कहीं धीमा तो कहीं वेगवान, कहीं गहरा तो कहीं छिछला, कहीं गंभीर तो कहीं हँसता-खेलता अंतत: यह जाकर समुद्र में विराम पाता है। *महासागर ही उसकी शरणस्थली याकि गंतव्य-स्थान है।*

महाभारत की अपरिमेय अमृत जल-राशि की यात्रा अनेक पर्वों, आख्यानों-उपाख्यानों, यज्ञो, युद्धों, अरण्यो या नगरों में मंद, शांत या उन्मत्त गति से प्रवाहित होती है, पर उसका गंतव्य निश्चय ही हेतु-पूर्ण है।

महाभारत के अंतर्साक्ष्य के अनुसार भगवान व्यासदेव को यह महाग्रंथ पूरा करने मे तीन वर्ष लगे थे। तीन वर्षों तक रोज प्रात: स्नान-ध्यान

करके उन्होंने इस महाकाव्य का सृजन किया -

त्रिभिर्वर्षे सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनि ।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ।। (आदिपर्व 56.32)

त्रिभिर्वर्षैरिदंपूर्णं कृष्णद्वैपायनो प्रभुः ।
अखिलं भारत चेदं चकार भगवान मुनि ।। (स्वर्गारोहण पर्व 5.48)

तीन वर्षों की एकाग्रचित्त साधना के उपरांत वेदव्यासजी ने इस महाग्रंथ को पूरा किया। और वह भी कब? अपने दोनों पुत्रों धृतराष्ट्र और विदुर के देहावसान के पश्चात्। धृतराष्ट्र को अपने सौ पुत्रों की मृत्यु का महादुःख तो था ही, अतः उसके दोषों याकि अंधदृष्टि का वर्णन करने वाला काव्य रचकर उसके दुःख में अभिवृद्धि करना शायद उस कोमल हृदय महामनीषी को युक्ति संगत नहीं लगा होगा। महायुद्ध तो उनकी नजरों के सामने ही उनकी बार-बार की सलाह ठुकरा कर हुआ था।

और कैसा महासंहार? धृतराष्ट्र स्वयं कहता है -

कष्टं युद्धे दश शेषाः श्रुता मे
त्रयोऽस्माकं पांडवानां च सप्त।
द्व्यूना विंशतिराहताक्षौहिणीनां
तस्मिन्संग्रामे भैरवे क्षत्रियाणाम्।। (आदिपर्व 1.217)

'अरेरे, अठारह अक्षौहिणी में से मात्र दस लोग ही बच पाए। तीन हमारे और सात पांडवों के।'

इस महासंहार में धृतराष्ट्र की जिम्मेदारी कहीं ज्यादा थी। धृतराष्ट्र शब्द का अर्थ ही राष्ट्र को हड़प कर जाने वाला होता है। हुआ भी यही। स्वयं अंधा होने के कारण भारतीय राजनीति-परंपरा के अनुसार उसको राज्य तो मिला न था। भारतीय राजनीति की आज्ञा है कि राजा विकलांग नहीं होना चाहिए। क्योंकि कोई भी विकलांग स्त्री अथवा पुरुष अपनी प्राकृतिक न्यूनता की वजह से संतुलित नहीं हो सकता। संतुलन विहीन को सत्ता सौंपने से प्रजा का अहित ही होता है। शांतनु के बडे भाई देवापि को कोढ़ होने के कारण ही राज्य नहीं मिला था। इसी परंपरा के अनुसार धृतराष्ट्र के बजाय पांडु को, छोटे भाई को राजा बनाया गया। पांडु स्वास्थ्य लाभ के लिए वन में जाते समय धृतराष्ट्र को राज्य सौंप गया था। धृतराष्ट्र के

कथनानुसार न्याय अर्थात् ट्रस्ट के रूप में। लेकिन जिसका नाम धृतराष्ट्र था, ऊपर से अंधा था, उसने राज्य छोड़ने या उसमें से थोड़ा-सा भी हिस्सा देने में अपनी असमर्थता प्रकट की और लिये हुए ट्रस्ट तथा सौंपे हुए राज्य दोनों के प्रति द्रोह किया। ईश्वर ने धृतराष्ट्र को इसका पर्याप्त दंड भी दिया। आश्रमवासिक पर्व में धृतराष्ट्र की व्यथा इसकी गवाह है। गांधारी व्यासजी से उसका वर्णन करती हुई यों कहती है .

> षोडषेमानि वर्षाणि गतानि मुनिपुंगवः।
> अस्य राज्ञो हतान् पुत्रान्शोचतो न शमो विभो।।
> पुत्र शोकां समाविष्टो नि श्वसन् ह्येष भूमिपः।
> न शेते वसती सर्वा धृतराष्ट्रो महामुनेः।।
>
> (आश्रमवासिक पर्व 29-38-39)

अत व्यासजी को उसका कष्ट बढ़ाना कठोरता लगी होगी, इसीलिए धृतराष्ट्र-विदुर आदि के जाने के बाद उन्होंने 'भारत' अथवा 'जय' नामक ग्रंथ की रचना प्रारंभ की।

> तेषु जातेषु वृद्धेषु गतेषु परमां गतिम्।
> अब्रवीद्भारत लोके मानुषेऽस्मिन्महानृषिः।। (आदिपर्व । 56)

विश्व के महाकाव्यों के सर्जकों में रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों की एक विशेषता यह है कि इनके रचनाकार इनमें वर्णित घटनाओं के न सिर्फ साक्षी हैं अपितु उन्होंने किसी न किसी अवसर पर उनमे भाग भी लिया है। और व्यासजी ने तो विशेष रूप से। कौरव-पांडव उनकी संतानें हैं अतः महाभारत में कितनी ही बार सभा में, यात्रा में, परेशानी या सकट के समय व्यास अपने-आप आते हैं, सावधान करते हैं, धीरज देते है और शांति देते हैं। यह क्रम ठेठ आश्वमेधिक पर्व तक चलता है।

युद्ध के अंत मे युधिष्ठिर दुःख, पश्चात्ताप और विषाद से घिरकर, संन्यास लेकर वन में जाने की बात कहता है। भीम, अर्जुन, द्रौपदी तक की बात नहीं मानता। तब व्यासजी आकर उसे मना सके। महाभारत के प्रथम पारायण के समय जनमेजय के यज्ञ में व्यासजी उपस्थित थे। वृद्ध होने के कारण उन्होंने स्वय कथा का पारायण करने की जनमेजय की प्रार्थना स्वीकार नही की और अपने शिष्य वैशपायन से कहा कि वह महाभारत की कथा का पारायण करे। इस प्रकार व्यासजी कुरुवंश की शांतनु, धृतराष्ट्र,

युधिष्ठिर, परीक्षित और जनमेजय इन पाँच पीढ़ियों के साक्षी थे। अपने पुत्रों, पौत्रों, प्रपौत्रों, पुत्रवधुओं, पौत्रवधुओं सब के कलह, भेद, ईर्षा, अभिमान, अवज्ञा या अज्ञान से पैदा किए गए दुखार्णव या महाप्रलय को उन्होंने स्वयं देखा था। दूसरों के मुँह से सुनकर उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा। द्रौपदी चीरहरण जैसे कई प्रसगों का वर्णन जब पढ़ते हैं तो मानो कोई आँखों देखा वर्णन करता हो या किसी ने अक्षरश: विवरण लिख कर फिर से उसे दोहराया हो, ऐसा अनुभव होता है। उसमें संदेह करने की धृष्टता नहीं हो सकती। इसी बल पर उन्होंने अपने काव्य को आदि पर्व में एकाधिक बार इतिहास कहा है। 'हाँ, यों घटा था, और मैंने उसे देखा था, अनुभव किया था। यह केवल कल्पना का सृजन नहीं है—इतिहास-प्रदीप है', ऐसा व्यासजी ने कहा है।

सचमुच इतिहास-प्रदीप है, पर आखिरकार एक महाकवि के द्वारा प्रज्वलित इतिहास प्रदीप है यह; अत: कवि अपने सार्वभौम दिव्य चक्षुओं से उसके अनुसधानों, उसके अर्थों और उसके पीछे कितने ही वर्षों पूर्व रोपे गए हेतुओं को देखे बिना नहीं रह सकता।

भीष्म शिखंडी के हाथों मारे गए, मात्र इतना कह देने से उन्हें संतोष नहीं होता। शिखंडी भीष्म का वध कैसे कर सकता था? कहाँ सूर्य और कहाँ पतगा। अत व्यासजी ने शिखडी के पीछे उसकी प्रारंभ की और पूर्व जन्म की अम्बा द्वारा लिये जाने वाले बदले की बात को युद्ध के प्रवाह के साथ जोड़ दिया। द्रोणाचार्य का वध धृष्टद्युम्न कर सकता था, यह बात भी पहली नजर में स्वाभाविक नहीं दिखती। अतएव उन्होंने द्रोण-द्रुपद के बाल्यकाल, द्रुपद द्वारा किए गए अपमान, द्रोण द्वारा लिये गए बदले, तक्षक, अर्जुन, कृष्ण, शिशुपाल आदि कितने ही वैरों के, यों अंत से पहले के, लेकिन अत की तरफ ले जाने वाले बलों को प्रकट किया था। इतिहास और समाज को सचेत दृष्टि से देखने वाले द्रष्टा के रूप में उनकी मान्यता थी कि *इतना विशाल भीषण विनाशकारी युद्ध सिर्फ दो भाइयों के झगड़े से नहीं हो* सकता था, इसलिए उन्होंने अपने दिव्य चक्षु से, जिसे उन्होंने स्वयं इतिहास-प्रदीप कहा, उसमें पहले के और वर्तमान तमाम बलों को व्यक्त करने वाला महाकाव्य रचा था।

कवि द्वारा प्रज्वलित इतिहास-दीप : भले ही उसमें कवि-कल्पना की बाती हो, कवि-प्रतिभा का [illegible] पर [illegible] और उसके [illegible]

तो स्वय द्वारा अनुभूत विषादपूर्ण घटनाएं हैं। देखने की बात यह है कि घटनाओं की बुनियाद पर कवि-प्रतिमा का कैसा प्रकाश जगमगा रहा है?

जनमेजय ने आस्तीक को वरदान देकर सर्पयज्ञ को अधबीच में बंद करवा दिया और जिसके साथ दो पीढ़ियों का वैर था उस तक्षक को जीवन-दान दे दिया। इस प्रकार खांडव वन दाह से जो वैर-वृक्ष खिला था उसने उसका क्षमा के द्वारा अंत किया। वह दो जातियों के बीच के एक महा-कलह को सुखद रीति से मिटा सका। ऐसे समय में जनमेजय को अपने ही परिवार में हुए एक अन्य महा-कलह की याद आनी स्वाभाविक थी। अत उसने वृद्ध वेदव्यास का वदन-पूजन करके पूछा कि 'आप कौरवों-पाडवों के पितामह हैं। आपने उन्हें प्रत्यक्ष देखा है। कृपा करके यह तो बताइए कि उन दोनों के बीच समस्त प्राणियो का सहार कर देने वाला युद्ध किस क्लेशदायी भेद के कारण हुआ था।'

इसके उत्तर में व्यासजी ने उस सर्व विनाशकारी युद्ध की बात को इतिहास ही कहा था

आचरव्युः कवय. केचित्संप्रत्याचक्षते परे।
आख्यास्यन्ति तथैवान्ये इतिहासमिमं भुवि।। (आदिपर्व। 26)
आचचक्षे तत. सर्वमितिहासम् पुरातनम्।।

व्यासजी की आज्ञा से उस चित्त-क्लेशकारी घटना को सुनाते समय वैशंपायन ने भी आरंभ में कहा था कि 'अमित तेजस्वी व्यासजी की इस रचना में इतिहास के साथ-साथ धर्म और अर्थ की अखिल-दृष्टि से उपदेश दिये गए हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के संबंध में जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है, लेकिन जो कुछ अन्यत्र है, वह सब यहाँ विद्यमान है।'

यहाँ अखिल शब्द बड़े महत्त्व का है। अर्थशास्त्री अर्थ-दृष्टि से देखता है, राज्यशास्त्री राज्यदृष्टि से देखता है, वैद्य दर्द की दृष्टि से देखता है, अन्न का भूखा आहार की दृष्टि से देखता है, लेकिन कवि और खास तौर से महाकवि, चाहे वह दुनिया के किसी भी कोने में हो, खड-दृष्टि से तो देख ही नहीं सकता। उसके लिए किरण किरण नहीं होती, सूर्य होती है; सूर्य केवल सूर्य नहीं होता नीहारिका होता है, और नीहारिका सिर्फ नीहारिका नहीं होती आकाशगंगा होती है।

मनुष्य अर्थात् मननशील प्राणी। प्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास लेने वाले अनेक जीव हैं, पर उन सब में घटनाओं पर मनन करने की उनमें परस्पर संबंध देखने की, उसका मूल खोज निकालने की, उसमें से सार निकालकर कोई नियम बनाने की शक्ति तो सिर्फ मनुष्य को ही मिली है। छोटी घटनाओं पर भी वह मनन करता है, तो क्या ऐसे महाविनाश और वह भी अपने कुल का महाविनाश देखने के बाद व्यासजी जैसे ऋषि हमारे समक्ष सिर्फ हकीकतों का ढेर ही लगाते? साधारण सूत-चारण की तरह क्या वे अपने जाने-माने वीरों का पराक्रम ही गाते? ऐसी बात सोचना असंभव है। घटनाएँ तो उनके लिए कर्म-विपाक थी, उन पर खूब विचार-मंथन हुआ है और उससे निकलने वाला सारा सारभूत तत्त्व निश्चय ही उन्होंने सामने रखा है।

मनुष्य अकारण कर्म नहीं करता। भले ही वह कारण उसके मन में स्पष्ट और योजनापूर्वक आया हो अथवा सहज अजाने ही आया हो, लेकिन मनुष्य के कर्म अन्य प्राणी-सृष्टि की भाँति मात्र वृत्ति-जन्य नहीं होते। सामान्य आदमी के लिए भी जब यह बात सच है तो फिर किसी महाकवि की रचना तो हेतु-विहीन कैसे हो सकती है? उसका कथा-संयोजन और पात्र-निरूपण हेतु-बद्ध होगा ही। उसका आरंभ, मध्य या अंत विशृंखल तो हर्गिज नहीं हो सकता! जिस तंतु को प्रारंभ में उठाया जाएगा उसका मध्य या अंत तक निर्वहन होगा ही होगा।

महाभारत के प्राण-तंतु के बारे में व्यासदेव ने प्रारंभ में ही संकेत कर दिया था। आदिपर्व के प्रथम अध्याय में वे कहते हैं :

> दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुम: स्कंध कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
> दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी।।
>
> (आदिपर्व । 110)

दुर्योधन अहंकार रूपी महावृक्ष है। कर्ण उसका तना है। शकुनि उसकी शाखा। दुःशासन रूपी उसमें फल-फूल लगे हैं। इस अहंकार रूपी वृक्ष का मूल है अदूरदृष्टि राजा धृतराष्ट्र।

व्यासजी को धृतराष्ट्र को अदूरदर्शी और अहंकार-वृक्ष का मूल घोषित करने में संकोच तक नहीं हुआ। वे आरंभ में ही ठीक से उस रोग पर अंगुली रख देते है। यही नहीं, इतनी ही स्पष्टता से वे आरोग्य का मूल भी

बता देते हैं

> युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
> स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखा।
> माद्रीसुता पुष्पफले समृद्धे
> मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च॥ (आदिपर्व 1।111)

महाभारतकार की विलक्षण दृष्टि ने महासंग्राम के केन्द्रीय हेतु को स्पष्ट रूप से देख लिया था। उन्होंने कहा था कि दुर्योधन अहंकार रूपी महावृक्ष है, जिसका फल है दुःशासन अर्थात कुशासन। उसके मूल में है अंध-दृष्टि और लोभी धृतराष्ट्र। एक महाकवि की छटा से व्यासदेव ने धृतराष्ट्र को अंधा चित्रित किया है। आंखों से अंधा तो उसे कुदरत ने बनाया था पर उन्होंने उसे अंतश्चक्षुअंध प्रकट किया है। गांधारी जैसी उज्ज्वल सती भी उस अंधत्व का निवारण नहीं कर सकती थी, न ही विदुर जैसे प्रज्ञावान सचिव का उपदेश या अनुरोध उसके अंतश्चक्षु पर पड़े जाले को तोड़ सकता था।

बिना आंखों वाले की अंधता त्रासद नहीं होती। कभी-कभी वह कल्याणकारी भी सिद्ध होती है, जैसे सूरदास की हुई थी। उसके अंतश्चक्षु हर समय खुले रहते थे—अपलक। तभी तो वंशीधर ने गोप-ग्वाल बन कर उसका हाथ पकड़कर उसे कुएँ में गिरने से बचाया था। और रास्ते पर लाकर हाथ छुड़ाकर भाग गया। तब सूरदास ने बड़ी सरलता और स्वाभिमान के साथ अपने उद्गार यों प्रकट किए थे -

> बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानि के मोही।
> हिरदय सों जब जाहिगो, मरद बदूंगो तोही॥

स्थूल अंधता असुविधाजनक होती है, पर अंतर की अंधता तो अकल्याणकारी होती है। धृतराष्ट्र की त्रासदी इस आंतरिक अंधता की थी। तभी तो वह अहंकार के वृक्ष का मूल बन गया। गांधारी ने उसे बारबार चेताया भी था कि दुर्योधन के दुष्कृत्यों में तुम हाँ मत कहो। उसे छोड़ दो। तुम उसके पिता हो तो क्या मैं उसकी माँ नहीं? क्या मुझे उसके प्रति कम स्नेह है? कवि ठाकुर रवीन्द्रनाथ ने 'गांधारीर आवेदन' में तप्त रजत सदृश जो शब्दावली गांधारी के मुँह से कहलवाई है, उसे सुनकर तो व्यासजी भी प्रसन्न हो गए होते।

विदुर ने धृतराष्ट्र के मुंह में अपने लिए 'मैंने दूध पिलाकर घर में साँप पाला है' जैसा ताना सुनने के बाद कहा था -

त्यजेदेक कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत्।

ग्राम जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।। (सभापर्व 62।।)

संधि-प्रस्ताव के समय भगवान श्रीकृष्ण ने भी इसी बात का पुनरावर्तन करते हुए कहा था 'हम यादवों ने और औरों ने कंस को त्याग दिया तो सुख पाया, इसी तरह तुम भी दुर्योधन को त्याग दो।'

पर जो राज्य को हड़प चुका था, जिसे कब्जा छोड़ना ही न था, और जो पुत्र-स्नेह के पीछे अंधा था, वह माना नहीं। मूल के रूप में वह तो दुर्योधन के अहंकार का पोषण ही करता रहा। यह बात भी देखने लायक है कि व्यासजी ने अहंकार को महानाश का मूल बताया था। जिस तरह गोस्वामीजी ने 'पाप मूल अभिमान' कहा, कामवासना को नहीं कहा। कामवासना अनिष्ट है। जयद्रथ, कीचक, ययाति आदि की उच्छृंखल कामवासना को व्यासजी ने निंदनीय ठहराया था। स्वयं व्यासजी भी पाराशर की एक क्षण की प्रबल कामवासना की उपज थे, यह बात उन्होंने स्वयं बताई थी, पर विनाश का मूल तो उन्होंने अभिमान को ही बताया था, यह समझने की बात है। इसका कारण यह है कि अभिमान सामाजिक स्वरूप धारण कर सकता है और उस नाते अभिमान जिस विनाश को प्रेरित कर सकता है, वह पारावार की तरह अंतहीन हो सकता है। कुल का अभिमान, राष्ट्र का अभिमान, रंग अथवा जाति का अभिमान, सामूहिक शोषण, अत्याचार अथवा हत्याकांड के रूप में फैल सकता है।

महाभारत में वर्णित विनाश का मूल दुर्योधन का अभिमान था, यह बात प्रारंभ में ही कही जा चुकी है। तो फिर मध्य में और अंत में क्या था दुर्योधन का? पांडु अपना राज्य धृतराष्ट्र को सौंप कर वन में गया और वहाँ उसका देहांत हो गया। उसके पाँचों पुत्रों को साथ लेकर वनवासी ऋषिगण हस्तिनापुर में आए। इन पुत्रों के स्वभाव और शौर्य से लोग इन्हें चाहने लगे। राज्याधिकार तो इनका ही था, पर दुर्योधन के द्वारा चढ़ाये हुए धृतराष्ट्र ने इन्हें वारणावर्त के लाक्षागृह में भेज दिया और वहाँ पहले से बनाये षड्यंत्र के अनुसार आग लगा दी गई। पांडव मर गए, इस बात को लेकर धृतराष्ट्र ने बहुत विलाप किया पर 'मेरे मन कछु और है, कर्ता के मन और' कहावत के अनुसार वे लोग जब द्रौपदी को ब्याह कर, द्रुपद की मैत्री के साथ प्रकट हुए

तो उनके अधिकार और हिस्से को किस तरह समाप्त किया जाए, इसकी गहरी चिंता-फिकर होने लगी। विदुर, भीष्म आदि तो पांडवों के पक्ष में थे ही, लोग-बाग भी पांडवों के पराक्रम विनय आदि को लेकर सार्वजनिक रूप से उनकी तरफदारी करते थे। धृतराष्ट्र को भी सूझ नहीं रहा था कि जिनके पिता का मूल राज्य था उन उत्तराधिकारियों को लोगों की इच्छा के विरुद्ध किस तरकीब से राज्य न दिया जा सके? दुर्योधन ने जब पांडवों का बल घटाने की बात की, तब धृतराष्ट्र ने कहा कि 'मुझे भी तुम्हारी तरह लगता है, पर मैं इसलिए साफ-साफ नहीं कहना चाहता, क्योंकि विदुर को मेरे मन की बात पता लग जाती है। लेकिन तुमको और कर्ण को जो समझ में आता है, वह बताओ।'

इसके उत्तर में दुर्योधन ने जो कहा, वह सभी युगों के सभी सत्ताकांक्षी, खटपटी राजनेता भी कहते आए हैं। मानो हम किसी ताजे प्रकरण में पढ़ रहे हों। दुर्योधन बोला : 'मेरे दिमाग में कई तरह के उपाय हैं। एक उपाय यह है कि किसी होशियार ब्राह्मण को तैयार करके कुंती और माद्री के पुत्रों में फूट डला दी जाए अथवा द्रुपद और उसके अमात्यों को खूब धन देकर उन्हें युधिष्ठिर के खिलाफ कर दिया जाए, अथवा यों भी किया जा सकता है कि हमारे धन के लोभ से द्रुपद और उसके सलाहकार पांडवों को इस तरह फुसला-पटा लें कि वे द्रुपद की राजधानी में ही रह जाएँ और हस्तिनापुर से यह पाप दूर टल जाए अथवा उपाय-निपुण लोगों को इस तरह से काम में लगा दें कि वे अंदर ही अंदर पांडवों में झगड़े करवा दें। वे ऐसा करें कि द्रौपदी का मन इनसे हट जाए। उसको बहुपतियों में मन पिरोना पड़ता है, इसलिए शायद यही आसान तरीका है। ऐसा भी कराया जा सकता है कि पांडवों का मन उससे उचट जाए। उन लोगों में सबसे ज्यादा बलवान भीम है। किसी गुप्तचर के मार्फत उस काँटे को निकाला जा सकता है। एक बार ऐसा हो जाए तो फिर पांडव राज्य माँगने की हिम्मत नहीं करेंगे। कदाचित पांडव यहाँ आएँ तो उन्हें सुंदर स्त्रियाँ इस कदर लुभाएँ कि वे द्रौपदी का नाम भी न लें। यों भी किया जा सकता है कि उनको लेने के लिए कर्ण को भेजा जाए और रास्ते में ही मेरे लोग उन्हें मार डालें। मेरा तो ऐसा विचार है कि अच्छे या बुरे किसी भी तरीके से पांडवों को रोका जाना चाहिए।'

एक अन्य प्रसंग में उसने कहा था : 'मैंने सुना है कि लोग आपको और भीष्म को एक तरफ हटा कर युधिष्ठिर को राजा बनाना चाहते हैं।

नेत्रहीन होने के कारण आपको राज्य नही मिला, पाडु को मिला। पाडु का विरसा उसके बडे पुत्र को मिले, उसके बाद उसके पुत्र व पौत्र को मिलता रहेगा। हम लोग और हमारे पुत्र-पौत्र तो रह ही जाएंगे। हमेशा-हमेशा के लिए पराये का अन्न खाकर नरक का दु ख न भोगना पडे, इसके लिए कुछ उपाय करो।'

धृतराष्ट्र बोला : 'पर पांडु ने धर्मपूर्वक राज किया था। मंत्री, सैन्य, सेना उसके अनुकूल रहे थे। उसके पुत्र गुणवान है, लोग उन्हें चाहते हैं। उन्हें जबरदस्ती राज्य-सत्ता से वंचित कैसे किया जा सकता है? अगर ऐसा करेंगे तो कहीं पाडवों के पक्ष वाले लोग हमारा वध तो नही कर देंगे?' दुर्योधन ने भी इस आशका पर सोचा था और हर काल में, सभी स्थानों पर इसका युक्ति-संगत उपाय भी कर रखा था। दुर्योधन ने कहा था : 'इस आशंका का अनुमान लगाकर मैने प्रजा को धन-मान देकर अपने पक्ष में लाना शुरू कर रखा है। लोगों के मुखिया हमें निश्चय ही मदद देंगे। फिर पिताजी! वित्त विभाग का सचिव अभी हमारी तरफ है। आप किसी तरह चतुराई के साथ पांडवों को हम से दूर हटाइये। तब तक मैं राज्य पर अपना पूरा कब्जा जमा लूंगा।' यह बाद वाला सवाद पांडवों को वारणावर्त भेजते समय का है।

यह अभिप्राय अथवा आयोजन तो प्रारभ का है, जब दुर्योधन उठ कर अभी खड़ा हो रहा था। द्यूत-क्रीड़ा और द्रौपदी चीर-हरण के समय तो उसके अहंकार और निर्लज्जता ने तमाम मर्यादाएँ छोड़ दी थी।

दुर्योधन को इतना ज्यादा नशा चढ़ा था कि द्यूत मे द्रौपदी को जीतने के साथ ही उसने किसी और को नहीं, धर्म प्राण विदुर को ही आज्ञा दी कि द्रौपदी को सभा में बुलाकर लाए। विदुर ने उससे कहा कि : 'तुम सब का विवेक नष्ट हो चुका है, पर मेरा नही, तुम और कौरव-वंश अब मृत्युगामी हो।' तब दुर्योधन अपने अनुचर प्रातिकामी से बोला : 'यह विदुर तो कायर है, तुम जाकर पांचाली को लाओ।' उसकी भी द्रौपदी को बुला लाने की हिम्मत नहीं थी। तब दुर्योधन ने दु:शासन से कहा : 'यह प्रातिकामी तो मूर्ख है। इसको भीम का डर लग रहा दिखता है। तू जा, और पांचाली को खींचकर ला।' उसकी निर्लज्जता की कोई सीमा नही रही। एक तरफ भीष्म की बात को मानते हुए उसने कहा : 'इस युधिष्ठिर को, अपने बड़े भाई को भीम और नकुल आदि गलत बताते हैं। अगर यह कह दे कि तू नहीं जीत ली

गई, ता नृ आजाद है।' और ऐसा कहते समय उसने अपनी जांघ उघाड़ कर अश्लीलता की हद कर दी।

उसी क्षण उसकी मृत्यु ही नहीं, मृत्यु की गति तक निश्चित हो गई थी। भीम ने उसी जगह घोर प्रतिज्ञा ली थी कि

पितृभि सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद् वृकोदर।
यद्येतमूरु गदया न भिन्द्यां ते महाहवे।। (सभापर्व 71।14)

श्रीकृष्ण ने संधि-प्रस्ताव के समय दुर्योधन को समझाया था कि आधा राज्य नहीं तो चौथा, बल्कि अगर पांच गाँव ही दे दो तो पांडव सम्मान रह लेंगे और कुल-नाश भी नहीं होगा। पर अभिमान का एक लक्षण यह होता है कि वह अपने अलावा किसी दूसरे का सम्मान स्वीकार नहीं करता। उसने अंदाजा लगा लिया कि भीष्म और द्रोण चाहे जितनी भड़ाँस निकालें, पर आखिर तो उसी के साथ रहेंगे। कर्ण उसका साथी था ही। भीम को तो वही काफी था। उसकी यह गणना गलत भी नहीं थी। भीष्मपर्व में भीष्म का रौद्र रूप, द्रोण का प्रलयंकारी पराक्रम और कर्ण का विस्मयकारी शौर्य पढ़ने वालों को इस बात का प्रमाण मिल जाता है। ऐसा अनुभव होता है कि पांडवों की पराजय बहुत नजदीक है। अंतिम गदायुद्ध में भीम उस थके हुए दुर्योधन के साथ लड़ते-लड़ते आकुल-व्याकुल हो गया था। पांडवों के प्राण तालु से चिपक गए थे। गदायुद्ध में दुर्योधन ऐसा कुशल सिद्ध हुआ था। पर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भीम जीता, क्योंकि नियम का उल्लंघन करके उसने दुर्योधन की जाँघ पर गदा का वार किया था। इस तरह दुर्योधन की गणना गलत नही थी। बस एक ही जगह उसकी गणना गलत निकली और वह थी श्रीकृष्ण की सर्वत्र संचरित होती कुशल-वृष्टि की। अध्यात्म का एक रहस्य है कि अभिमानी व्यक्ति बहुत-बहुत देख सकता है, लेकिन एक ही चीज जो वह नही देख सकता, वह है परमात्मा। अत सब का कुशल-मगल चाहने वाले श्रीकृष्ण संधि के समय जैसे-जैसे नीचे उतरते गए, वैसे-वैसे उसका उन्माद बढ़ता गया और उसने कह दिया . 'सूई की नोक बराबर भूमि भी मै बिना लड़े नहीं दूँगा।' और बड़े प्रज्ञावान पुरुष की तरह कह डाला : 'मै भी अपने अंतर मे सूई को हर किसी को प्रेरणा देने वाले पुरुष की आज्ञा के रूप मे देखता हूँ।'

लेकिन संधि के समय यह तय न था कि युद्ध का पलड़ा किस ओर झुकेगा। दसवें दिन भीष्म घायल होकर गिर पड़े। शरशैया पर लेटे हुए

उन्होंने दुर्योधन को एकांत में बुला कर कहा 'बेटे! अब मेरी मृत्यु से भले ही इस युद्ध का अंत आने दो। दुर्योधन! तुम पांडवों से सुलह कर लो।' पर दुर्योधन ने सुनी अनसुनी कर दी। जब द्रोण स्वयं सेनापति थे, तब चौथे दिन उन्होंने भी कह कर देखा, लेकिन दुर्योधन ने तो टेढा ही जवाब दिया 'आपको तो अर्जुन के प्रति पक्षपात है। मन लगाकर तो लड़ते नहीं, नहीं तो आपके सामने पांडवो की क्या मजाल!' आखिर द्रोण के अवसान के बाद अश्वत्थामा का पिता की मृत्यु का घाव हरा था और धृष्टद्युम्न को लेकर हृदय में आग सुलग रही थी, तब भी विलक्षण समझदारी से सब की भलाई के लिए धर्म प्रिय के साथ समाधान की बात चलाई गई, पर दुर्योधन ने तो वही जवाब दिया।

अभिमानी के आँखे नहीं होती। उसके कर्म उसकी आँखों के आगे अँधेरा कर देते हैं, जिससे उसे जो देखना चाहिए, नहीं देख सकता और जो नहीं हो सकता वह होता दिखाई देता है। अगर कोई यह कहता कि वह पृथ्वी को पांडवो से विहीन कर देगा तो दुर्योधन उसे सच मान लेता। फिर भले ही वह कर्ण हो, शल्य हो या जयद्रथ हो। उसकी समझ की बुनियाद थी ही नहीं। विदुरजी के शब्दों में कहें कि 'पीलिये के रोगी को जिस तरह दीपक अप्रिय लगता है, उसी तरह उसे सच्ची और कड़वी सलाह सुननी अप्रिय लगती थी।' वह भी इस हद तक कि जब उसकी सेना नष्ट हो चुकी थी, स्वयं एक तालाब में छिप कर अकेला बैठा था, ग्यारह अक्षौहिणी सेना में से मात्र तीन शस्त्रधारी शेष बचे थे—अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कृतवर्मा। उस समय भी वह अश्वत्थामा की बड़ाई को सही मान कर सेनापति के रूप में उसका अभिषेक कर देता है। बिल्कुल ऐसा ही दूसरा प्रचंड अभिमानी था हिटलर। उसकी तमाम सेना नष्ट हो चुकी थी और रूसी टेंक बर्लिन की सीमा पर खड़े थे। तब भी उसने किसी की सलाह नहीं मानी और एक मामूली से लेफ्टिनेंट को सेनापति पद पर अभिषिक्त करके बर्लिन की सुरक्षा का आदेश दिया था। उस आदेश की बर्लिन के राजमार्ग पर भी अमल होने की स्थिति न थी।

दुर्योधन को अपने स्वार्थ के लिए नम्रता का दिखावा [illegible] हो, ऐसी बात नहीं थी। द्रौपदी के चीर-हरण के समय जब [illegible] कि द्रौपदी जुए में जीत ली गई है या नहीं, इसका निर्णय [illegible] तब तत्काल एक उदार आदमी की तरह उसने उनकी [illegible] लिया। इतना ही नहीं, उल्टे उसमें अपनी ओर से [illegible]

'धर्मराज ही क्यो, अर्जुन, नकुल, सहदेव मे से अगर कोई भी कह दे कि द्रौपदी नही जीती गई, तो मैं उसे मुक्त करने को तैयार हूँ।' इसके पीछे कारण यह था कि पाडव अपने बड़े भाई की आन से बाहर नहीं जाएँगे। और ऐसा कहते समय भी उसने धूर्तता से फिर बात जोड दी थी . 'अपने बड़े भाई को झूठा ठहराना हो तो।' इस तरह उसने परोक्ष रीति से पाडवों को बाँध दिया। तब भी अर्जुन ने बहुत स्पष्ट रूप मे कह दिया था कि 'युधिष्ठिर महाराज ने स्वय को हारने से पहले हमको दाँव पर लगाया था, इसलिए हम तो जीते हुए गिने जाएँगे, पर द्रौपदी को उन्होंने स्वय हारने के बाद दाँव पर लगाया था, इसलिए वह जीती हुई नहीं मानी जाएगी।' तब दुर्योधन ने उसकी बात सुनी-अनसुनी कर दी। दुष्ट पुरुषो में दुर्योधन के जैसा दूसरा नमूना मिलना मुश्किल है। कर्ण का भी उसने ऐसी ही धूर्तता के साथ अंत तक उपयोग किया था।

राजकुमारों की परीक्षा के समय रंगमंच पर अर्जुन और कर्ण के बीच स्पर्धा हुई थी। उसमें उसने यह बात स्पष्ट रूप से देख ली थी कि कर्ण का साथ उसके लिए कितना मूल्यवान है। अतएव जब चतुराई से भीम ने कर्ण का अपमान किया तो उसने कर्ण के वकील या प्रशंसक के नाते भीम को सुनाकर कहा था . 'मानव की महत्ता उसके पराक्रम में है। महापुरुषों और शूरवीरों का मूल नहीं देखा जाता। फिर तुम्हारा मूल कहाँ है, यह बात कौन नहीं जानता।' जब कृपाचार्य ने यह कहा कि केवल राजपुत्र या राजा ही अर्जुन से स्पर्धा कर सकता है, तो दुर्योधन को उसे अंग देश का राजा बनाते देर नही लगी। दूसरों के अभिमान अथवा गरज को पोषित करके उसे अपना आभारी बना लेने की चातुरी उसमें थी। पांडवों में ऐसी चतुराई नहीं थी। युधिष्ठिर तो कभी-कभी बुद्धू-सा लगता है। उसकी सहायता के लिए निकल कर आने वाले मामा शल्य को दुर्योधन बीच में ही स्वागत-सत्कार देकर अपने पक्ष में ले उड़ा था। वह तो कृष्ण को भी अपनी चतुराई से फँसा लेने के लिए आश्वस्त था। जब संधि के लिए श्रीकृष्ण दूत बन कर आ रहे थे, तब शल्य की भाँति उनका भी स्वागत-सत्कार करके अपने पक्ष में करने का उद्यम किया था। मानो वह श्रीकृष्ण का अत्यंत स्नेही हो, इस तरह उसने कहा : 'आपको तो हमारे यहीं उतरना चाहिए था न! हमारा स्वागत स्वीकार करना चाहिए था न! भोजन भी आपको हमारे यहीं करना चाहिए। केशव! आप जैसे को तो ऐसा भेदभाव करना शोभा नहीं देता।'

श्रीकृष्ण थे समदृष्टि पुरुष। न उनका कोई शत्रु था, न मित्र। इस तरह की बात वे अनेक बार कह चुके थे। इसलिए दुर्योधन ने उन्हीं के वचनो पर शह देने का प्रयास किया। पर भगवान ने नितांत सादा-सा उत्तर दिया : 'आप तो जानते ही हो कि दूत अपना कार्य सिद्ध होने से पहले प्रतिपक्षियो का भोजन नही लेता, आपत्ति की घड़ी मे विरोधी के यहाँ भी भोजन किया जा सकता है, ऐसा शास्त्रो में कहा गया है, पर मैं किसी आपत्ति में नहीं हूँ।'

भगवान समदृष्टि वाले हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अंधे हैं, उन्हे पापी या पुण्यात्मा, सज्जन या दुर्जन, गुड़ या खली, अँधेरे या उजाले के बीच कोई फर्क नजर नहीं आता। इसीलिए श्रीकृष्ण ने दुर्योधन जैसे व्यक्ति के लिए प्रतिपक्षी शब्द को उपयोग में लाकर असदिग्ध रूप से यह बता दिया कि वे स्वयं एक समर्थक है। ज्योंही यह बात स्पष्ट हुई त्योंही अनेक मधुर वचनों से श्रीकृष्ण को सबोधित करने वाले दुर्योधन ने विषैले नाग की तरह श्रीकृष्ण को न जाने क्या-क्या कह डाला।

ऐसा नहीं है कि अभिमानी होने के कारण दुर्योधन चतुर नहीं था, अपितु उसकी सारी चतुराई अपने अभिमान के पोषण के लिए थी। ऐसा भी नहीं है कि उसे वाणी की मिठास का उपयोग करना न आता हो, मात्र शर्त इतनी ही है कि वह स्वयं को केन्द्र में रखने के लिए ही मिठास का उपयोग करता था। अपनी केन्द्रीय सत्ता को टिकाये रखने के लिए वह कर्ण अथवा धृतराष्ट्र द्वारा दी गई सीख को निःसंकोच काम में ला सकता था।

लोकान् विश्वासयित्वैव ततो लुभ्येत् यथा वृकः

अर्थात् लोगों को विश्वास में लेकर मौका मिले तो भेड़िये की तरह उन पर धावा बोला जा सकता है।

वहेदमित्रं स्कन्धेन् यावत कालस्य पर्यय.।
ततः प्रत्यागते काले भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि।।

अर्थात् जरूरत पड़े तो शत्रु को माथे पर उठाकर भी चलना चाहिए, पर समय आने पर अपना दाँव देखकर उसे पछाड़ा जा सकता है, जैसे पत्थर पर मिट्टी का घड़ा।

अभिमानी दुर्योधन का अभिमान अंतिम घडी तक नहीं गया। भले लोगो का साथ होने से अथवा अनुभव से सब लोग सुधर जाते हैं। ऐसी सादी गणित व्यासजी के पास नहीं थी। कई लोग ठुड्डे दाने जैसे होते है। चाहे

मन भर लकड़ियां जला दो, नहीं सीझते तो नहीं सीझते। यह संसार लीला है। ईसा मसीह को जब सूली पर चढ़ाया गया था, तब बगल में ही दो आदमियों को चोरी के इल्जाम में सूली पर चढ़ाया गया था। एक को ईसा में देवत्व नजर आया, जबकि दूसरे ने सूली पर चढे होते हुए भी ईसा की मजाक उड़ाई 'बहुत बड़ा बेटा बना फिरता था न भगवान का! अब बुला अपने बाप को, ताकि नीचे उतारे।' मनुष्य स्वभाव की वक्रता का बाइबल में उल्लिखित यह एक सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

व्यासजी भी इसी बात का समर्थन करते थे। दो खंडों के, दो कालों के, नितांत भिन्न-भिन्न दो महाग्रंथ, लेकिन दोनों का निचोड़ एक जैसा! दादू ने भी कहा है कि—'जो पहुँचे सो एक मत।'

जो लोग सभी गली-कूचों, राहों-पगडंडियों को पार करके शिखर तक पहुँच जाते हैं, उनकी वाणी भी एक-जैसी ही होती है।

व्यासजी ने दुर्योधन की वक्रता का हूबहू वर्णन किया है।

अपने सभी सगे-संबंधियों और कुल-परिवार का विनाश करवा कर दुर्योधन एक तालाब में जा छिपा था। अश्वत्थामा और कृप ने उसे बाहर निकल कर जब लड़ने को समझाया तो वह कहने लगा : 'भले ही अब पांडव पृथ्वी का उपभोग करें।' लेकिन जब पांडवों को किसी शिकारी के द्वारा यह पता लगा कि दुर्योधन पानी में छिपा है, तो वे तालाब के किनारे आकर उसे ललकारने लगे। युधिष्ठिर जानता था कि अभिमानी दुर्योधन के अभिमान पर चोट की जाएगी तो वह बाहर निकल आएगा। इसलिए ताने कसते हुए वे ऊँची आवाज में बोलने लगे : 'युद्ध के लिए तू कितना उतावला हो रहा था, कैसी डींगें मारता था, पर तेरे जैसा डरपोक या नामर्द कौन होगा? क्या यही है तेरा क्षत्रिय धर्म? असंख्य राजाओं और सैनिकों का विनाश करके अब तू अपने प्यारे प्राणों को छिपाता फिर रहा है। बड़ी शेखी मारता था कि वीर शैया पर सोऊँगा, लेकिन इस मौके पर छिप कर बैठा है।'

शुरू में तो दुर्योधन कहता रहा था कि 'सगे-संबंधियों से विहीन यह पृथ्वी अब तुम ही भोगो। मैं तो मृगचर्म पहन कर वन में चला जाऊँगा।' लेकिन युधिष्ठिर ने उससे कहा : 'मुझे तुम्हारे द्वारा दी हुई यह पृथ्वी नहीं चाहिए। तू तो सूई की नोक बराबर जमीन भी देना नहीं चाहता था, तो फिर एकाएक अब पूरी पृथ्वी देने के लिए कैसे तैयार हो गया? सभी को मरवाकर

अब तुझे जीना मीठा क्यों लग रहा है?' ये वचन दुर्योधन सहन नहीं कर सका, इसलिए बोला : 'मैं लड़ने को तैयार हूँ। डरता नहीं हूँ। पर तुम लोग ज्यादा हो और मैं अकेला। बहुत सारे मिलकर एक से लड़ें, यह न्याय की बात नहीं है।'

पर युधिष्ठिर ने उसे छोड़ा नहीं, इसलिए हँसकर कहा : 'जब तुम सात योद्धाओं ने मिलकर बालक अभिमन्यु को मारा था, तब तुम्हारी न्यायबुद्धि कहाँ चली गई थी? पापी लोग जब संकट में फंसते हैं तभी उनको धर्म याद आता है। पर तू बेफिक्र रह। हम तुम्हारे साथ अलग-अलग लड़ेंगे। जैसा तू पसंद करे। पर या तो तू हमें मार कर इस पृथ्वी को भोग, या फिर रणशैया पर सोकर स्वर्ग में जा। पानी में छिप कर रहना कुरुवंशी को शोभा नहीं देता।'

ये ताने अभिमानी से कैसे सहन होते? घड़ी भर पहले कृप के आग्रह के बावजूद जो बाहर ही नहीं निकला था, वह न सिर्फ बाहर आया पर लड़ा भी। भीम ने उस अभिमान के मारे की जाँघ तोड़ डाली, सिर पर लात मारी, वह खून की उल्टियाँ करने लगा, मौत सामने दिखाई दी, तब भी उसका अभिमान गया नहीं। भीम ने दुर्योधन के सिर पर जो लात मारी थी, वह युधिष्ठिर से नहीं देखी गई। उसने भीम को उलाहना देते हुए कहा : 'भाई। इस तरह लात मत मार। एक तो यह राजा है, दूसरे हमारा भाई है। फिर इस समय हारा हुआ है और धरती पर गिरा है।' श्रीकृष्ण ने भी कहा : 'मरे हुए शत्रु को फिर से क्या मारना? यह निर्लज्ज और लुब्ध पापी तो कब का मरा हुआ ही था। कटु वचन सुनाने से क्या फायदा? सूखी लकड़ी भला टेढ़ी थोड़े ही हो सकती है।'

भला दुर्योधन का अभिमान यह कैसे सहन करता कि उसके दुश्मन उसके प्रति दया दिखाएँ। दुर्योधन की उस समय की प्रतिक्रिया का व्यासजी ने अद्भुत चित्र खींचा है :

इति श्रुत्वा त्वधिक्षेपं कृष्णात् दुर्योधनो नृप.।
आमर्षवशमापन्न उदतिष्ठद् विशा पते।।
स्फिग्देशेनोपविष्टः दोर्भ्यां विष्टभ्य मेदिनीम्।
दृष्टिं भ्रूसंकटां कृत्वा वासुदेवे न्यपातयत्।।

अर्धोन्नत शरीरस्य रूपमासीन्नृपस्य तत।
क्रुद्धस्याशी विषस्येव च्छिन्नपुच्छस्य भारत।।
प्राणान्तकरणी घोरा वेदनाम विचिन्तयन।
दुर्योधनो वासुदेव वाग्भिरुग्राभिरार्दयत।।

(शल्य पर्व 60 23-26)

जिस तरह विषधर नाग अपने आधे शरीर को जमीन पर रखकर, आधा जमीन से ऊपर रखकर फेन उगलता हुआ खड़ा होता है, उसी तरह दुर्योधन जमीन पर अपने दोनों हाथ टेककर बड़े कष्ट से उठ बैठा हुआ। लाल सुर्ख आँखे करके भयंकर दृष्टिपात करते हुए और धिक्कारते हुए वह कृष्ण से कहने लगा—'तूने ही कारस्तानी से अधर्म-युद्ध के द्वारा हम सब का नाश कराया। क्या तुझे अपने किये पर लाज नहीं आती?' तब पांडवों की तरफ मुड़कर बोला 'मैने विधिवत् वेदाभ्यास किया था, दान दिया था, पृथ्वी का उपभोग किया था। मैं शत्रुओं के माथे पर पैर रख कर जिया था, अब मुझे क्या लेना-देना है। भीम ने मेरे सिर पर लात मारी, इसका मुझे अफसोस नहीं है क्योंकि कुछ क्षणों के बाद कौवे और गीध भी मेरी इस देह को नोंचेंगे। पर मैंने देव-दुर्लभ ऐश्वर्य भोगा है और क्षत्रियोचित मृत्यु प्राप्त की है। भला मुझे इससे बढिया मृत्यु और क्या मिलेगी? 'को नु स्वतांतरोमया'। 'अब तुम सगे-संबंधियों और सैनिको से विहीन पृथ्वी का उपभोग करना।' यद्यपि थोड़ी ही देर बाद अपने क्षत्रियोचित अंत का गुणगान करते हुए दुर्योधन ने अपने अंतिम क्षणो में कृपाचार्य के द्वारा सरोवर का जल मँगाकर अश्वत्थामा को सेनापति के पद पर नियुक्त किया और किसी भी रीति से पाडवो को नष्ट करने की आज्ञा दी। लेकिन प्रकृति उसे सफल बनाने वाली न थी।

दुर्योधन से भी अधिक संहारक युद्ध छेड़ने वाले और उससे भी अधिक विकृत अहंकार वाले हिटलर ने, जो इसी युग में हुआ था, आत्महत्या से पूर्व अपनी वसीयत में अपने को ही सच्चा सिद्ध करते हुए लिखा था - 'यह बात निपट झूठ है कि मैने या किसी भी जर्मन सेनापति ने उन्नीस सौ उनचालीस मे युद्ध चाहा था। यह युद्ध संसार भर के यहूदियों अथवा उनके लाभ के लिए काम करते संसार के राजनीतिक नेताओं ने चाहा था और भड़काया था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इंग्लैड या अमेरिका के साथ द्वितीय विश्वयुद्ध हमने कभी नहीं चाहा था। यह बात इतिहास खुद देख लेगा।

'हमारे किसानों, मजदूरों और खास तौर पर हमारे नामवर युवकों ने इतिहास में बेजोड़ बलिदान, अथाह सिद्धियों और पराक्रमों के काम किये हैं, यह जानकर मैं आनंद के साथ मर रहा हूँ। सबसे अंत में मैं सरकार और लोगों को रंगभेद कानून से चिपक रह कर निर्दयतापूर्वक विश्व के लिए विष-सदृश अंतर्राष्ट्रीय यहूदी समाज को कुंठित कर डालने के लिए प्रेरित करता हूँ।'

अभिमान सिर्फ अंधता ही नहीं है, कुल मिलाकर देखें तो अंततः वह एक प्रकार की कायरता ही है। अभिमान में हार को हार के रूप में स्वीकार करने की वीरता भी अंत में निर्मूल हो जाती है, लेकिन जो नम्र होते हैं, वे अपने और सामने वाले के, दोनों के दोषों को, चाहे सुखी हों या दु:खी, देखने में सफल हो जाते हैं। अंतिम घड़ी में विषैले नाग की तरह फुफकारने वाले दुर्योधन से धर्मराज ने क्या कहा? मृत्यु के समय भी अपने तमाम दुष्कर्मों को भूल कर कलह-पुरुष दुर्योधन जब उल्टे श्रीकृष्ण और पांडवों को धिक्कारने लगा तब सामने से युधिष्ठिर ने जैसी शीतलता देने वाली वाणी प्रकट की, उसमें इस धर्मपुरुष के मोम जैसे मृदु हृदय का, धर्म-चिंतन का तथा उसके पालन से उत्पन्न स्वदोष-जागृति का प्रमाण मिलता है। धरती पर पड़े दुर्योधन के सिर पर लात मारने वाले भीम को 'तुमने यह सही नहीं किया' कहने के बाद दुर्योधन के पास जाकर बड़े ही गद्गद् कंठ से उसने कहा : 'भाई! तुमको अफसोस या क्रोध करना शोभा नहीं देता। सब लोग अपने-अपने कर्मों के फल भोगते हैं। लोभ और अविवेक के कारण ही तुम्हारी यह दशा हुई है। तुम्हारे अपराध के कारण हमें भी अपने भाई-बंधुओं को मरवाना पड़ा था। पर अब शोक करना मिथ्या है। तुम्हें वीरोचित मृत्यु मिली है। शोक करने योग्य तो हम रह गए हैं, क्योंकि सगे-संबंधियों के बिना हमें आनंद विहीन जीवन जीना पड़ेगा। भाइयों और पुत्रों के मर जाने से शोक-विह्वल हुई दुखियारी विधवा बहुओं के सामने आँखें उठा कर कैसे देख सकूँगा? राजन्! तुम तो सुखी हो तुम्हें स्वर्ग मिलेगा, हमें तो यहीं नरक-तुल्य दारुण दु:ख भोगना पड़ेगा।'

कहा जाता है कि दुष्ट लोग दूसरों के राई बराबर दोषों को पर्वत बराबर गिनाते हैं और स्वयं अपने पर्वत बराबर दोषों को देखा-अनदेखा कर देते हैं। जबकि सज्जन पुरुष अपने राई बराबर दोषों को पर्वताकार देखते हैं।

दुर्योधन और युधिष्ठिर दोनों क्रमश खल और सज्जन की सांगोपांग मूर्तियां है। दुर्योधन को हम देख चुके, अब युधिष्ठिर को देखेंगे।

युधिष्ठिर का वैसे तो अर्थ है युद्ध में अडिग रहने वाला। पर व्यासजी ने उसे सामान्य सांसारिक युद्ध में स्थिर नहीं दिखाया। वह कर्ण के हमले का सामना करने जाता है, पर नहीं कर सकता। जब लड़ते-लड़ते उल्टे पैरों लौटता है तो कर्ण उसे जाने देता है, सिर्फ कंधे पर धनुष छू कर व्यंग्य करता है : 'तू क्षत्रिय नहीं, ब्राह्मण है, तुम्हें शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए। रणभूमि में तुम्हारी क्या जरूरत?'

नहीं, युधिष्ठिर प्रत्यक्ष युद्ध का अडिग योद्धा नहीं है; अपितु प्रत्येक मनुष्य के अंतःकरण में चलने वाले *सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, कृपणता-उदारता, वैर-क्षमा के समरांगण का वह योद्धा है*— अविचल योद्धा। इस युद्धभूमि से उसे कोई नहीं डिगा सकता। भले ही वह भीम हो, द्रौपदी हो या अर्जुन।

वनवास के दौरान द्रौपदी, अर्जुन, भीम सभी ने उसे बार बार कहा था कि वनवास का समय पूरा किये बगैर बीच में ही उन्हें दुर्योधन पर टूट पड़ना चाहिए। इसके लिए तर्क, अनुरोध, ताने—कुछ भी उद्योग करने में उन्होंने कमी नहीं रखी। उनकी यह वृत्ति सामान्य दृष्टि से गैरवाजबी भी नहीं थी, क्योंकि उनके साथ द्रोह हुआ था, उनका अपमान किया गया था। इतना सब कुछ करने के बाद भी यह भरोसा नहीं था कि दुर्योधन उन्हें अपना राज्य वापिस लौटा देगा। उसने तो इस तेरह वर्ष की अवधि का उपयोग धन और अन्य लालच देकर अपना पक्ष मजबूत करना ही तय रखा था। उसने दूसरे युद्ध के अंत में धृतराष्ट्र से कहा भी था कि 'तेरह वर्ष पूरे करके जब वे लौटेंगे, तब तक हम इतने बलवान हो चुकेंगे कि उन्हें लड़कर नष्ट कर देंगे।'

बुद्धिमती द्रौपदी ने कौरवों की इस दुष्टता को एक ऐसे अपमान के रूप में अनुभव किया, जो दुनिया की किसी दूसरी स्त्री को नहीं झेलना पड़ा था। अतः उस उग्र-तेजा राजकुमारी ने युधिष्ठिर से यहां तक कह डाला कि 'तुम्हारी क्षमा कायरता है। धर्म नाम की कोई चीज नहीं है। ईश्वर होगा, पर लगता नहीं कि वह न्यायी होगा। अन्यथा पापी सुखी क्यों हैं? और तुम्हारे जैसे पुण्यशाली को अंत में वनवास क्यों भोगना पड़े? लगता है ईश्वर सब को कठपुतलियों की तरह नचा रहा है, इसलिए इन तमाम पाप-कर्मों का वह भी जिम्मेदार है।'

दुःख, अपमान, अवज्ञा झेलकर मानो नास्तिकता के कगार तक आकर खड़ी थी याज्ञसेनी। उससे मलोने नकुल-सहदेव, वीर अर्जुन और महाबली भीम की दयनीय दशा देखी नहीं जाती थी। इसलिए उसने बार-बार रुँधे कंठ से कहा : 'क्षमा, क्षमा का जाप करना छोड़ दीजिए, अति क्षमा आत्मनाशी है। पुरुषार्थ कीजिए, मात्र धर्मपालन से फल नहीं मिलता। अगर ऐसा हुआ होता तो ये महा अधर्मी कर्ण, दुःशासन, दुर्योधन फलते-फूलते नहीं। आपको हमारी यह विपन्नावस्था देखकर क्रोध क्यों नहीं आता, महाराज? रोम-रोम में बाणों से बिंधी-सी कृष्णा आर्त्त स्वर में पुकार कर रही है, 'आपको क्रोध क्यों नहीं आता, महाराज?'

भीम ने तो यहाँ तक कह डाला : 'वेदों और सूत्रों में संवत्सर का अर्थ दिन भी होता है और महीना भी। भले ही हमने तेरह वर्ष की शर्त की हो, फिर भी तेरहवें दिन या तेरहवें महीने युद्ध कर सकते हैं। आज्ञा दीजिए, मैं अकेला उन सबसे मुकाबला करने के लिए तैयार हूँ। फिर उन दुष्टों का क्या भरोसा? मान लीजिए कि बारह वर्ष बिता दिये, तेरहवाँ वर्ष गुप्त रूप से बिताया और फिर दुष्ट शकुनि आपको फिर से द्यूत के लिए बुला ले तो क्या हम वापिस वन में आएँगे? नहीं, नहीं, महाराज। इन अधर्मियों के प्रपंच के सामने अब अपना धर्म रहने दीजिए। फिर भी अगर आपको धर्म-भंग लगता हो तो युद्ध में जीत लेने के बाद आप फिर से वन में लौट आइए और तेरह वर्ष का वनवास पूरा कर लीजिए।

'मैं सत्य को धर्म को अमृत से भी बढ़कर मानता हूँ। राज्य, पुत्र, यश, धन आदि सब को इकट्ठा कर लें तब भी ये सत्य के सोलहवें भाग बराबर भी नहीं।'

ये वाक्य बोलते समय युधिष्ठिर को कल्पना तक नहीं थी कि राज्य, पुत्रादि और अमरता से भी बढ़कर उन्हें सत्य ज्यादा प्रिय था या नहीं, इसकी परीक्षा होने वाली थी। पहली परीक्षा तो अरण्यवास के दौरान हुई।

वन में एक बार प्यास के मारे अन्य पांडवों ने तालाब के मालिक यक्ष की आज्ञा के बगैर पानी पी लिया और मर गए। तब युधिष्ठिर की परीक्षा हुई। जब यक्ष उसके उत्तरों से प्रसन्न हो गया और उसने किसी एक भाई को जीवित करने का वचन दिया तो युधिष्ठिर ने अविलम्ब नकुल को फिर से जीवित करने की माँग की। यक्ष ने उससे पुनर्विचार करने के लिए कहा, क्योंकि तेरह वर्ष के वनवास के बाद उसे द्रौपदी के अपमान का बदला लेना था, राज्य-प्राप्त करने के लिए महायुद्ध भी लड़ना था। इनके लिए भीम की जरूरत थी। द्वन्द्वयुद्ध में शंकर को भी मोहित कर देने वाले अर्जुन की जरूरत थी। अत दूरदर्शिता से सोचकर नकुल के बदले भीम या अर्जुन को जीवित करने की माँग के लिए यक्ष ने उसे दुबारा सोचने के लिए कहा था। यह एक ऐसी बात थी, जिसे साधारण आदमी भी समझ ले, पर धर्म की सूझ और उसका पालन साधारण आदमियों का कार्य-प्रदेश नहीं है, इसमें तो असाधारण व्यक्ति की ही जरूरत पड़ती है। कबीर ने इस धर्म-साधना को चिता पर चढ़कर स्वयं जल मरने या युद्ध में शीश उतार कर दे देने वाले शूरवीर की कर्त्तव्य साधना से भी ज्यादा कठिन साधना कहा था।

सती को पाँच घड़ी जागृति रखनी है अर्थात् पाँच घड़ी दु ख सहना है। शूरवीर को दो घड़ी, पर साधक को तो अहर्निशि, पल-पल जूझना पड़ता है।

यक्ष तो भीम या अर्जुन जिस किसी का नाम लिया जाता, पुनर्जीवित कर सकता था। राज्य, पुत्र, यश आदि सब की प्राप्ति का आधार इस वरदान पर ही निहित था। पर जो अंतर-युद्ध में स्थिर था, उस युधिष्ठिर ने बिना किसी हिचकिचाहट के नकुल को ही माँगा। यक्ष को भी अचरज हुआ और उसने कहा - 'अभी तक तो मैं तुम्हें बुद्धिमान समझता था, लेकिन अब लगता है कि तू अल्पमति है।'

सम्मारी लोगों को धर्म-पुरुष अल्पमति ही लगे हैं। पं. जवाहरलाल नेहरू को गांधीजी के प्रति अत्यधिक प्रेम और आदर था, लेकिन जब बापू ने हरिजनों के लिए अलग मतदान वाले फैसले के विरुद्ध दिव्य अनशन शुरू किया तो उन्हें गांधीजी की बात समझ में नहीं आई। इस कदम से हमारी आजादी की लड़ाई पिछड़ जाएगी। उनको लगा कि धर्म के ऐसे मुद्दे राजनीति में लाकर गांधीजी भूल कर रहे थे—ऐसा उन्होंने स्वयं लिखा था।

यक्ष समस्त सांसारिक प्राणियों का स्थूल लाभ-हानि के तराजू पर कर्माकर्म का निर्णय करने वाला प्रतिनिधि था। कहने लगा : 'तुमको अभी हस्तिनापुर का राज्य लेना है। द्रौपदी के अपमान का हिसाब बराबर करना है। भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुःशासन आदि के सामने तुम्हें नकुल की क्या जरूरत? जरा गंभीरता से सोच, और भीम या अर्जुन में से किसी एक को जीवित करने की मांग कर।'

लेकिन युधिष्ठिर ने तो बिल्कुल सीधा-सा उत्तर दिया : 'मेरे पिता के दो पत्नियाँ थी। हम उन्हीं के पुत्र हैं। हमारी माता माद्री सती हो गई। वह अपने पुत्रों को मेरी माता के भरोसे सौंपती गई थी। जब हम वन में निकले थे, तब मेरी माँ ने माद्री के पुत्रों की सँभाल का दायित्व मुझे सौंपा था। अब वन से लौटते समय अगर हम दोनों कुंती के ही बेटे होंगे तो मेरी माँ के द्वारा माद्री को उसके पुत्रों की अपने पुत्रों के समान देखभाल का वचन टूट जाएगा। यक्ष, अगर पुनर्जीवन के लिए मुझे एक ही भाई को चुनना है तो माद्री पुत्र नकुल को वापिस सौंप दे, ताकि हस्तिनापुर में वापिस लौटने पर दोनों माताओं का एक-एक बेटा रहे।' इस अविचल धर्मबुद्धि से यक्ष प्रसन्न हो गया और अंत में सब भाइयों को जीवित कर दिया। इससे यही साबित होता है कि युधिष्ठिर धर्म-वणिक नहीं था।

इससे भी कड़ी परीक्षा स्वर्ग के प्रवेश-द्वार पर हुई थी। धरती का कोई भी प्राणी अभी तक सदेह स्वर्ग के दरवाजे तक नहीं पहुँचा था। संसार की देह संसार में ही छोड़ने पर स्वर्ग जाना संभव है। मांधाता, शिवि, उशीनर, नहुष, ययाति, उपरिचर, भरत आदि अनेक अश्वमेघ यज्ञ करने वाले और ससागरा पृथ्वी का दान करने वाले कोई सदेह स्वर्ग में प्रवेश नहीं पा सके। द्रौपदी, अर्जुन, भीम आदि सब मार्ग में ही गिर पड़े थे। ऐसे समय इन्द्र के विमान में बैठने से पहले युधिष्ठिर ने आग्रह किया कि जीवन के अंतिम क्षण तक साथ निभाने वाले कुत्ते को भी सदेह स्वर्ग में स्थान दिया

जाए। जिस प्राणी को अस्पृश्य समझा जाता है, उस तुच्छ श्वान को बर्फ की अंतहीन वीरानी में अकेले छोड़कर स्वर्ग जाने के लिए युधिष्ठिर तैयार नहीं था। इन्द्र ने उसे कहा कि कुत्ता अपवित्र प्राणी है। उसके स्पर्श और सहवास से मिलने वाला यज्ञफल भी नष्ट हो जाता है, तो भला स्वर्ग की तो बात ही क्या? इसलिए कुत्ते को तो यहीं छोड़ना होगा। इसके उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा कि 'यह कुत्ता मेरा नित्य का साथी है और भक्त है। इसलिए मैं इसे स्वर्ग में साथ रखने की इच्छा रखता हूँ, क्योंकि अगर मैं ऐसा नहीं करूँगा तो यह सिद्ध होगा कि मैंने इसके साथ निर्दय व्यवहार किया है। यह तो मेरे साथ ही रहेगा।' युधिष्ठिर ने 'निर्दय' शब्द का प्रयोग किया। इससे स्पष्ट है कि सगे-संबंधियों के प्रति ही नहीं, मात्र मनुष्यों के प्रति ही नहीं अपितु जीव मात्र पर दया रखना यह धर्म का हृदय है। जहाँ स्वकेन्द्रितता होती है, वहाँ यह दया संभव नहीं। स्वकेन्द्रितता दया को दूर करती है और जब दया को स्थान देते हैं तो स्वकेन्द्रितता दूर होती है।

इन्द्र को जबरदस्त आश्चर्य हुआ। बोला : 'हे युधिष्ठिर, जब तुमने द्रौपदी, भीम, अर्जुन आदि सब को छोड़ दिया तो इस तुच्छ, अस्पृश्य कुत्ते को छोड़ने में क्या बाधा है?'

इसके उत्तर में अंतर्युद्ध के विजेता ने कहा : 'मेरे भाई और द्रौपदी रास्ते में मर गए, मैंने उनको छोड़ा नहीं था। मरने के बाद प्रकृति के नियमानुसार किसी भी तरह संबंध बनाकर नहीं रखा जा सकता। इसलिए विवश होकर मैंने उनको छोड़ा है। इसमें मेरा कोई दोष नहीं। पर यह कुत्ता ठेठ हस्तिनापुर से मेरे साथ आया है। यह अपनी प्राणरक्षा के लिए आकुल-व्याकुल हुआ है। इसने मुझे नहीं छोड़ा तो मैं इसे नहीं छोड़ूँगा। इसे मेरा व्रत समझ लीजिए।'

स्वर्ग के वैभव में पलने वाले इन्द्र को यह बात समझ में आनी मुश्किल थी। अतः बोला : 'तुम मनुष्य के भाव से ऊँचे चढ़े हो। मेरे बराबर होकर स्वर्ग की लक्ष्मी को प्राप्त करने में सिद्ध हुए हो। अगर इस कुत्ते को छोड़ दोगे तो कोई तुम्हारी निंदा नहीं करेगा।' व्यासजी ने यहाँ इन्द्र को सहस्रनेत्र कहा है। लेकिन हजार आँखों वाला जो बात देख नहीं सकता, वह दो आँखों वाला देख सकता है। उत्तर में धर्मराज ने कहा : 'तुम्हारा ऐश्वर्य मुझे न मिले तो न सही, पर मैं अपने भक्त को त्यागने का अनार्य कृत्य नहीं करूँगा। यह मित्रद्रोह के बराबर महापाप है।'

अमर वैभवों के बीच रहने वालों और सुख-दुःख से दोलायमान मर्त्य मानव के मूल्यों के बीच की यह खींचतान, द्वन्द्व है। मर्त्य मानवी अनन्त सुखों के लिए भी निर्दय होने को तैयार नहीं है। इस निश्चय के सम्मुख आखिर स्वर्ग हार गया।

लेकिन अभी युधिष्ठिर की एक परीक्षा शेष थी। वेदव्यास ने स्वर्गारोहण पर्व में धर्म महावृक्ष की महिमा पूर्ण रूप से तथा अशेष भाव से जो प्रकट की है, वैसी पृथ्वी पर किसी अन्य कवि ने शायद ही प्रकट की होगी।

धर्मराज स्वर्ग में पहुँचे। जाकर देखा कि दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि आदि सोने के सिंहासनों पर जगमगाते वस्त्र पहन कर बैठे थे। वहाँ द्रौपदी नहीं, भीम नहीं, अर्जुन, अभिमन्यु, महावीर कर्ण आदि कोई नहीं। यह देखकर वे क्रोध के वशीभूत होकर ऊँची आवाज में बोल उठे : 'जिनके कारण हमने वनवास में महान दुःख झेले, जिसकी हठ के कारण हमें मित्रों और बांधवों का संहार करना पड़ा, जिसके पाप के कारण राजपुत्री निर्दोष अंगों वाली द्रौपदी को बलपूर्वक सभा के बीच खींच कर लाया गया, उन लोगों के साथ रहने की बात तो क्या, उनको देखने तक की मेरी इच्छा नहीं है। मेरे भाई कहाँ है? बुद्धि और गुणों से शोभायमान श्यामवर्णी पांचाली कहाँ है? मुझे वहाँ ले चलो।

यत्र सा बृहति श्यामा, बुद्धिसत्व गुणान्विता।
द्रौपदी योपिता श्रेष्ठा यत्र चैव प्रियामम।।

तब नारदजी व्याकुल धर्मराज से बोले : 'अब आप स्वर्ग में आ गए हो, देवतुल्य हो, इस मानुषी भाव को त्याग दीजिए। द्यूत और द्रौपदी का वस्त्रहरण याद न करो। देवता भी युद्ध में वीरगति पाने वाले दुर्योधन की पूजा करते हैं। यह स्वर्ग है। यहाँ वैर नहीं रहता।'

स्वर्गोऽय नैह वैराणि भवन्ति मनुजाधिप।

पर धर्मराज को जिस स्वर्ग में अधर्मी, दुष्ट, वचनद्रोही, जला डालने वालों, पीड़ा देने वालों को स्थान दिया जाता है, वह स्वर्ग स्वर्ग ही नहीं लगता। स्वर्ग में वैर भले ही न हो, पर न्याय तो होना ही चाहिए न! देवता तो मनुष्यों से ऊंचे होते हैं, तो ऊँची अवस्था वालों की न्यायबुद्धि उल्टे अधिक ऊँची होनी चाहिए। यहाँ तो उल्टा न्याय देखने में आ रहा है। जिन लोगों ने

सत्कर्म किए हैं, वे दिखाई नहीं देते और जिंदगी भर दुष्कर्म करने वाले निर्दयी सिंहासनों पर बैठे हैं। ऐसा तो पृथ्वी पर भी था। उन तमाम लोगों को निर्मूल करने के लिए श्रीकृष्ण के सहारे हमने महायुद्ध लड़ा। और वही लोग वापिस यहाँ सिंहासन पर आकर बैठ जाते हैं तो ऐसे स्वर्ग की क्या कीमत?

स्वर्ग में वैर नहीं होना चाहिए। मानुषी भाव को त्याग देना चाहिए। इस तरह की नारद की दलील युधिष्ठिर को प्रपंच या वंचना, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म के फर्क को समाप्त कर देने वाला मिथ्या तर्क लगा था। ईश्वर जिस तरह स्वर्ग, मृत्युलोक, पाताल—सब लोकों में है, उसका एक ही रूप है। इसी भाँति न्याय अथवा पुण्य का स्वरूप सभी लोकों में एक-समान होना चाहिए। कदाचित् इन्हें लेकर सीमित बुद्धि वाले लोगों में भ्रम हो सकता है, पर देवलोक में ऐसा क्यों होना चाहिए? प्राकृत मनुष्यों मे भी जब सत्यनिष्ठता और न्यायनिष्ठता जैसे भावों को महत्ता दी जाती है, अगर ये भाव स्वर्ग में न हों तो ऐसे स्वर्ग की तिनके बराबर भी कीमत नहीं है। ऐसा स्वर्ग निःसत्व है। *इसलिए वह पुण्यात्मा युधिष्ठिर रोष के साथ बोल उठा :* 'जिसकी वजह से सम्पूर्ण भूमंडल का विनाश हुआ था, वह अधर्मी और पापी दुर्योधन यहाँ स्वर्ग लोक में मौजूद है तो मेरे वीर और सत्यप्रतिज्ञ भाई किस लोक में होंगे? मुझे यहाँ नही रहना। मै धर्मचारिणी द्रुपद-कन्या को देखना चाहता हूँ। भाइयों के बिना मुझे इस स्वर्ग का क्या करना है? मेरा स्वर्ग यह नहीं है। मेरा स्वर्ग तो वहाँ है जहाँ मेरे कारण युद्धाग्नि मे अपने शरीर की आहुति देने वाले महात्मा द्रुपद, शिखंडी, युधामन्यु, उत्तमोजा, अभिमन्यु आदि हैं; जहाँ अजाने में हमारे हाथों मारे गए सूर्यपुत्र कर्ण हैं।

किं मे भ्रातृविहीनस्य स्वर्गेण सुरसत्तमाः।
यत्र ते स मम स्वर्गो, नायं स्वर्गो मतो मम।।

यहाँ धर्मराज युधिष्ठिर सिर्फ उसके लिए अपने शरीर की आहुति देने वालो को ही याद नहीं करता अपितु महात्मा, मोटे मनवाले जैसे शब्दों का भी प्रयोग करता है। मरे तो प्रतिपक्षी भी है, पर वह पक्ष अल्पात्मा, संकुचित मनवालों का था। सौपा हुआ राज्य वापिस नहीं दिया। पूरा छोड़कर आधा माँगा, पर नहीं दिया। अरे, पाँच गाँवो से ही हम संतुष्ट रहेंगे, ऐसा कहते हुए पाँच गाँव माँगे, पर वे भी नहीं दिये। उल्टे अवध्य दूत पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को कैद करने का प्रयत्न किया। ऐसे अल्प मन वाले अंधो के पक्ष में लड़ने वाले स्वर्ग के अधिकारी क्यों बने? अगर बनते हैं तो वह

स्वर्ग कैसा? और ऐसे स्वर्ग का मोह कैसा? स्वर्ग में भी अगर पक्षपात, पहुँच या खोटे प्रतिमान हो तो ऐसे स्वर्ग को छोड़ देना ही धर्म है। इसलिए युधिष्ठिर बार-बार कहने लगा

गन्तुमिच्छामि तत्राह यत्र मे भ्रातरो गता।

वह बड़ी आतुरता के साथ वहाँ ले जाने का अनुरोध करने लगा जहाँ उसके भाई, द्रौपदी, अभिमन्यु, द्रुपद आदि महानुभाव थे। देवताओं ने रास्ता बताने के लिए एक अनुचर को साथ भेजा। व्यास भगवान ने इस रास्ते का ऐसा वर्णन किया है कि अच्छे-भले दृढ़ मनोबल वाले लोगों के मन में भी उसे पढ़कर त्रास उत्पन्न हो जाता है।

यह अशुभ रास्ता अँधेरे से घिरा, लहू, मास, पस, शैवाल के कीचड़ से बना था और ऐसी दुर्गंध से युक्त था कि जिसे सूँघ कर माथा फटने लगे। चारों तरफ हड्डियाँ बिखरी थी, आधे नुचे हुए शव, कटे हुए सिर, बिखरे हुए पेट-पैर और ढेर के ढेर मुर्दे फैले हुए थे। उन पर गीध, चीलें, कौवे झपट कर नोंच रहे थे। रास्ता धुरी जैसी पैनी धार वाली वनस्पति से छाया हुआ था। चारो तरफ आग की लपटो मे सिकने वाले जीवों की चीखें सुनाई देती थी। कृमियाँ और जीव-जंतु पैरों में उलझ रहे थे।

युधिष्ठिर यह सब देखकर पल भर के लिए विह्वल हो उठा। अनुचर से पूछा : हमें किधर जाना है? मेरे भाई कहाँ है? देवदूत ने बताया कि यहीं तक आपको लाने के लिए देवताओं ने मुझे कहा था। यहीं से हमें वापिस चलना है। युधिष्ठिर वापिस लौटने की बात सोच रहा था कि तभी चारों तरफ से आवाजें आने लगी : 'ज्येष्ठ पांडव! आप वापिस मत जाओ। पल भर वहीं खड़े रहो।'

धर्मपालन की कैसी दिगंतव्यापी महिमा महाकवि ने इस सकेत द्वारा व्यक्त की है। समग्र नरक अनत काल से फैला हुआ है, अनंत वेदना का संसार है, असंख्य जीव दुःख के समुद्र मे डूब रहे हैं, इस सम्पूर्ण माहौल में एक ही व्यक्ति खड़ा है—पर वह पुण्यश्लोक है। वह कुछ नहीं करता, मात्र खड़ा है, मात्र अस्तित्व ही है उसका। मगर उसके खड़े रहने मात्र से सम्पूर्ण नरक लोक सुगंधित हो जाता है। एक सूक्ष्माति-सूक्ष्म अणु की प्रचंड विनाश-शक्ति को संसार ने ठेठ पच्चीसी में जाकर अनुभव किया, जिसे उससे पहले कोई मानने तक को तैयार न था। यहाँ एक पुण्यात्मा की

सूक्ष्मातिसूक्ष्म सुगंध का प्रचंड स्फोट करके फैलाने की शक्ति महाकवि ने प्रकट की है तथा सूक्ष्म आत्मा में निहित सामर्थ्य का गुणगान किया है।

आयाति त्वयि दुर्धर्षे वाति पुण्य समीरण।
तव गन्धानुगस्तात येनास्मान सुखमागतम्।।

नरक की वेदना से अभिशप्त इन प्राणियों की प्रार्थना सुनकर युधिष्ठिर का आर्त्त हृदय बोल उठा : 'ओहो! कितना दुःख है इन लोगों को!' वहीं खड़े रहकर उसने पूछा : 'आप लोग कौन हैं? यहाँ क्यों हैं?'

चारों ओर से आवाजें आने लगी, 'मैं भीम, मैं अर्जुन, मैं कर्ण, मैं द्रौपदी, मैं नकुल, मैं सहदेव, मैं धृष्टद्युम्न।'

यह सुनकर फिर से व्याकुल धर्मराज मन ही मन कहने लगे : 'हाय रे! यह कैसी देव-दुर्गति? द्रौपदी ने कौनसा पाप किया था जो इसे इस दारुण दुर्गंध वाले स्थान में डाला गया है? और धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन ने ऐसा कौनसा सत्कर्म किया था जो उसके साथ वाले पापाचारियों की स्वर्ग में पूजा हो रही है? लगता है मैं स्वप्न में हूँ। मेरा चित्त-भ्रम तो नहीं हो गया? इतना ही नहीं, धर्मराज ने सब उल्टा-पुल्टा देखकर देवताओं और धर्म की निंदा की—ऐसा व्यासजी ने उल्लेख किया है।

'तुम उसको फल से पहचान जाओगे।' ऐसा ईसा ने कहा था (बाइबल से)। 'पेड़ चाहे विशाल हो, पर कड़ुवे फल देता हो, तो लोग उसे कुल्हाड़े से काट डालेंगे।' उन्होंने यह भी कहा था।

धर्मराज ने भी देवता और धर्म की परख अंततः फल से ही की।

स्वर्ग के देवता या खुद धर्म अगर अधर्मियों को स्वर्ग और धर्मियों को नरक देता है, तो वह धर्म धर्म नहीं, और देवता देवता नहीं। उनकी आज्ञा मानने या उनके विचार स्वीकार करने की कोई वजह नहीं। पृथ्वी पर अपूर्ण मानव रहते हैं। इसलिए भले ही अधर्म कई बार सफल होता दिखाई दे जाए, पर देवों की तराजू तो संसारियों की तराजुओं की तुलना में स्थिर और निष्पक्ष होनी चाहिए न! देवों का अर्थ ही प्रकाश है, उनमें ही अगर अंधकार हो तो वे देव कैसे?

प्रत्येक धर्म-पुरुष को शक्ति, धर्म या देवताओं के सामने भी कभी विद्रोह करना पड़ता है; फिर चाहे वह प्रोमेथियस हो, कबीर हो, राजा राममोहनराय हो या महात्मा गाँधी। इसमें जो सफलता अर्जित करता है वही

धर्म के सारतत्त्व को प्राप्त करता है। दूसरों के हाथ में तो धर्म का पुआल मात्र रहता है। इस अनुभव के सीमा-प्रदेश में खड़े रहकर युधिष्ठिर ने दूत से क्रोध में कहा : 'तुम जिसके दूत हो, उसके पास वापिस जाओ, अपने देवताओं से कहो कि मेरे दुखी भाई मैं उनके साथ रहूँगा तभी सुखी रहेंगे। इसलिए मैं यहीं रहूँगा, वहाँ नहीं आऊँगा।'

न ह्यहं तत्र यास्यामि, स्थितोऽस्मीति निवेद्यताम्।
मत्संश्रयादिमे दूता सुखिनो भ्रातरो हि मे।।

जाकर उन्हें बता दे कि मैं यहीं खड़ा रहूँगा, क्योंकि कवि ने लिखा है :

जिस बुद्धिमान और कोमल पुरुष की बुद्धि स्वर्ग में रहने वाले प्रच्छन्न अन्याय को भी देख लेती है और जो वैभव और सुख से आच्छादित नहीं होती, जो स्वर्ग को भी चुनौती देकर नकार सकती है, वह बुद्धि अंत:युद्ध में श्रेष्ठ पांडव को—मानव ने जो विजय नहीं पाई, लेकिन जिसे प्राप्त करके वह अपना और विराट का एक साथ साक्षात्कार करने वाला था, वैसी विजय दिलाती है।

कवि ने चामत्कारिक रीति से बताया है कि धर्मराज युधिष्ठिर इस निश्चय के साथ नरक के द्वार पर क्षण भर खड़ा क्या रहा स्वयं इन्द्र मूर्तिमान धर्म को आगे करके प्रत्यक्ष आ खड़ा हुआ। न वहाँ अंधकार रहा, न यातना रही, न दुर्गन्ध, शीतल पवित्र, पूर्ण गंधमय सुखद-स्पर्श वायु बहने लगी। मनुष्य की विजय को देवताओं ने भी अर्घ्य दिया।

इस तरह आरंभ में अपने दो पात्रों की विलक्षणता को जिस तरह से समेटा है, उसी को मध्य में और अंत में विकसित किया गया है। कथा का सूत्र और कथा-मर्म का सूत्र साथ-साथ गुंथता रहा है। व्यासजी ने अपनी दृष्टि इधर-उधर नहीं होने दी। उनका ध्येय : (1) कथा के माध्यम से धर्ममय जीवन की शोध की विषम यात्रा, उसकी व्याख्या, क्रियान्वयन में आने वाले विघ्न, उनके पालन में आने वाली बिना सोची ईश्वरीय सहायता, (2) अर्थमय जीवन की लालसा, उस मार्ग पर चलने का परिणाम, उसमें कभी-कभार दिखाई देती भ्रामक विजय, ऐसी भ्रामक विजय में विद्यमान ईश्वरलीला कि अंत में उसका समूल नाश हो, ऐसा नाश कि पीछे पिंडदान करने वाला भी न रहे!

तमाम उन्मत्त लोगों की यही कहानी है। प्रारंभ में विजय पर विजय और अंत में समूल उच्छेद। हिटलर को प्रारंभ में विजय पर विजय मिली। जब उसने बिना रक्तपात के ओस्ट्रिया को निगल लिया तो कहा था —'यह ईश्वर की ही इच्छा है। मेरे द्वारा ईश्वर जर्मनी का उत्कर्ष कर रहा है।' उसके भक्तों ने भी स्वीकार किया कि ईश्वर यही चाहता था। पर ईश्वर का हेतु हिटलर द्वारा माना हुआ हेतु न था। उसने तो यह भी तय कर दिया था कि विजय पर विजय प्राप्त करके अभिमान में पागल वह किस दिन पेरिस में प्रवेश करेगा और किस घड़ी शरण लेगा। मास्को के दरवाजे से लेकर परीनीज के पहाड़ों तक, पूर्व-पश्चिम और भूमध्य के सामने किनारे ठेठ कैरो की सीमा तक उसने अपने लोहे के टैंक पहुँचा दिये। सब के प्राण सूखने लगे। पुरानी भाषा में कहें तो 'तीन लोक थर-थर काँपने लगे', पर उस समय एक मुट्ठी भर टापू के नेताओं ने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा : 'हम समुद्र में लड़ेंगे, समुद्र तट पर लड़ेंगे, गली-गली और घर-घर लड़ेंगे, पर नाजियों की शरण नहीं जायेंगे।'

इस निश्चय के समय उसके पास न विमान थे, न टैंक। हथियार डंकर्क में छोड़ आया था। सेना मामूली थी। फिर भी छोटे-से राष्ट्र के सत्संकल्प से उसे हथियार, धन और मदद मिली। दुश्मनों की व्यूह-रचना में बहुत सारी भूल रह गई और छोटे से राष्ट्र ने विजय प्राप्त की।

प्रारंभ में जिसकी किसी को कल्पना तक नहीं थी, कोई मानने को तैयार तक न था, वैसा हो गया।

महाभारत का भी कहना यही है, 'यतो धर्मस्ततो जयः।' धर्म का एक सहज स्वभाव है कि वह बिखराव को एकत्र, एकरूप करके स्थिर करता है और नई-नई परिस्थितियों का सृजन करके अल्प को विराट बनाता है। जबकि अधर्म मूल को छिन्न-भिन्न करता है, मतिभ्रम करता है और अंत में 'समूलस्य विनश्यति।' इस अर्थ में महाभारत तत्कालीन इतिहास का काव्य है ही, पर मनुष्य जीवन के सनातन इतिहास का काव्य भी है। यह बात पाठकगण निश्चयपूर्वक कहेंगे ही। जहाँ धर्म है वहाँ विजय है, यही नहीं, जितना धर्म है उतनी ही विजय है, इस तरह कवि प्रकट करता है। भीम और युधिष्ठिर भी जितना अधर्म करते हैं उतनी ही, उनकी विजय अपूर्ण अथवा कलंकमय रही और इसके लिए उन्हें पर्याप्त नरकवास भोगना पड़ा। कर्ण में जिस हद तक धर्म था, उसी हद तक उसकी पराजय भी उज्ज्वल रही। कवि

की तराजू सही है। उसे न किसी से पक्षपात होता, न विरोध। सूर्य की रोशनी में सभी कुछ ढँके बिना दिखाई देने लगता है। अच्छे काम करने वाले की सूर्य खबर लेता है और जो इसी की रोशनी मे काले कारनामे करता है, उसकी भी खबर लेता है।

कवि सूर्य-सदृश्य है। उसके काव्य-प्रकाश में कुछ भी गुप्त नहीं। तभी तो स्वर्ग में इन्द्र युधिष्ठिर को अत मे दो बातें कहता है · सभी राजाओं को नरक का अनुभव करना पड़ता है, क्योंकि उसके हाथों से पूरी तरह निर्दोष कर्म किया जाना संभव नहीं। जाने-अनजाने में उसके हाथों दंड देने की भूल होनी सम्भव है। तब इन्द्र ने युधिष्ठिर को सबोधित करते हुए कहा कि तुमने तो एक समय जानबूझकर झूठ बोला था—द्रोणवध के समय। उस झूठ के लिए ही तुम्हें इतना नरक-दर्शन करना पड़ा, इस धर्मदंड के पास। युधिष्ठिर को भगवान श्रीकृष्ण ने सूचित किया था, उससे बचाव हो नहीं सकता था। कवि का दंड या कवि का न्याय सौदर्य-मंडित होने पर भी न्याय से अविच्छिन्न था। ऐसा अलौकिक सांगोपाग दर्शन कराया था प्रफुल्ल कमल सदृश नेत्रों वाले तथा अखिलाई के दर्शन में सदैव मगन रहने वाले भगवान व्यास ने।

❑

दूसरा व्याख्यान

हमने देखा कि महाभारत का प्रयोजन उसके कथा-प्रवाह, चरित्र-चित्रण और आदि-मध्य-अंत को देखते हुए धर्म का अनुसंधान करना है।

आरंभ में ही यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि महाभारत के अनुसार धर्म ही मोक्ष का साधन है, लेकिन धर्म और मोक्ष एक चीज नहीं है। धर्म सामाजिक स्वास्थ्य, वैयक्तिक विकास तथा मोक्ष की तैयारी का मानचित्र है।

हिन्दू धर्म मे मानव जीवन के चार पुरुषार्थ गिनाये गए हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इनमें से प्रथम तीन की चर्चा और इनके पारस्परिक संबंधो को लेकर महाभारत में विशेष रूप से विवेचन किया गया है। मोक्ष की चर्चा कहीं-कहीं हुई है, विशेष रूप से शांति पर्व के मोक्षधर्म पर्व में। पर वेदव्यास ने रसत्रयोधर्म अर्थात् धर्म, अर्थ, काम का जीवन में स्थान, उसकी विशेषता, मर्यादा और मोक्ष के साथ उसके संबंध की स्फुट चर्चा की है। मोक्ष मार्ग का सांगोपांग विवेचन कर पाना मानो महाभारत में आधा-अधूरा रह गया हो, इसी से सोच-समझ कर उन्होंने पीछे से श्रीमद्भागवत की रचना की।

महाभारत में धर्म शब्द का सबसे अधिक व्यवहार हुआ है। इसकी खोज करना ही व्यासजी की रुचि का मुख्य विषय था। गीता में उन्होंने उसे समग्र रूप में सर्वांग-सुंदर रीति से प्रस्तुत किया है। लेकिन जिस प्रकार फल के प्रत्येक पिंड में रस समाया हुआ रहता है, उससे रहित कोई भी पिड नही होता, उसी प्रकार महाभारत के अठारहों पर्व धर्म-रस से व्याप्त है।

विश्व की विविध संस्कृतियाँ जीवन के विविध पक्षों पर अपना पुरुषार्थ उँडेलती है। ग्रीकों ने सौंदर्य पर, असीरियनों ने युद्ध पर, इजिप्शियनों ने देवतावाद पर, चीन ने संतुलित समाज-जीवन पर और अत में यूरोपीय संस्कृति ने बुद्धि का चरमोत्कर्ष करके प्रकृति पर साम्राज्य स्थापना करने पर ध्यान केन्द्रित किया है।

भारतीय संस्कृति ने अपना पुरुषार्थ धर्म के अनुसंधान पर व्यय किया है।

सौंदर्य ढल जाता है, युद्ध के रथ टूट जाते है, देवता दुर्बलों के घातक बन जाते हैं, संतुलित संसार भी अंतत. क्षणभंगुर है और प्रकृति पर

की गई जबरदस्त विजय भी मदोन्मत्तता के परिणामस्वरूप सहार में परिणत हो सकती है,

भोज ने मुंज से कहलाया था :

मान्धाता च महीपति· कृतयुगालंकारभूतो गत·।
सेतुर्येन महोदधेर्विरचितः क्वासौ दशास्यान्तक·।।

अर्थात् हे मुंज। इन सब के साथ तो जो हुआ सो हुआ, तेरे साथ तो यह पृथ्वी चलेगी ना ? तूने पक्का तो कर लिया ना ?

यही बात एक अन्य सन्दर्भ मे मैत्रेयी ने अपने पति याज्ञवल्क्य द्वारा प्रदत्त की गई सम्पत्ति को स्पर्श करने से पहले पूछी थी : 'क्या इसके द्वारा मुझे अमृत की प्राप्ति होगी। अगर इससे अमृत न मिले तो मै इसे लेकर ही क्या करूँ ?

वस्तुओं की प्राप्ति के क्षणिक सुखों से परे अमृत-तत्त्व की शोध इस देश के अतीत काल की विशेषता रही है। भारतीय इतिहास मे विगत पंद्रह सौ वर्षो की अवधि की बड़ी से बड़ी घटना यदि कोई है तो वह है स्वतंत्रता का सूर्योदय।

हर्षवर्द्धन के अवसान के पश्चात् इस देश ने ऐसा रमणीय और उज्ज्वल प्रभात नहीं देखा था। बड़े-बूढ़े-बच्चे सभी उस दिन पागल हो उठे थे। चारों तरफ उत्सवों की धूम मची थी। उस मनोरम प्रभात की घड़ी में स्वतंत्रता लाने वाला व्यक्ति स्वयं कहाँ था ? नौआखाली मे ! उसे राजधानी के उत्सवों में अथवा स्वातंत्र्य समारोहों में कोई रुचि नहीं थी। उसे किसी तरह का आकर्षण न था। वह तो मृत्यु के द्वारा अमृत की प्राप्ति की बेसब्री से प्रतीक्षा कर रहा था।

युगों पहले मृत्यु के देवता यमराज ने नचिकेता से जीवन का रहस्य न जानने की बजाय जीवन का वैभव प्राप्त करने की सलाह दी थी।

इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यै·।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।।

अर्थात हे नचिकेता ! तू सुंदर रमणियाँ, अश्व जुड़े रथ आदि मनुष्य के लिए दुर्लभ सभी चीज माँग ले। तू ये सब ले जा। लम्बी आयु माँग ले, पर मृत्यु के पीछे अर्थात क्षणभंगुरता के भीतर क्या है इसे जानने की इच्छा छोड़ दे।

नचिकेता ने कहा

'तवैव वाहास्तव नृत्यगीते' अर्थात् आपके ये रथ-घोड़े, नृत्य गीत आदि भले ही अपने पास रखें। मुझे तो इस अस्थिर दिखाई देने वाले संसार में मृत्यु के उस पार क्या है, यही जानना है।'

कल की संध्या तक भारतीय साधना नचिकेता के पीछे-पीछे चलती रही थी। भारतीय जन-समुदाय की इस मूलभूत जिज्ञासा का वर्णन-विवेचन करना महाभारत का प्रमुख आशय रहा है।

इस नाते अनेक विद्वानों को महाभारत के सभी पात्र प्रतीक रूप लगे हैं। उन्होंने सम्पूर्ण महाभारत को एक रूपक के बतौर प्रतिपादित किया है। गुजराती के यशस्वी उपन्यासकार गोवर्द्धनराम ने अपने विशाल उपन्यास 'सरस्वतीचंद्र' में धर्म, कुंती, अर्जुन, द्रौपदी आदि को रूपक के प्रतीक रूप में दर्शाया है।

महाभारत का गहन अध्ययन करने वाले अध्येताओं को ऐसा लगने का कोई कारण नजर नहीं आता। भीम किसी रूपक की छाया नहीं है, अपितु भ्रातृ-वत्सल, सत्यप्रेमी, भोला, पृथ्वी-तत्त्व से ओतप्रोत, अन्याय के समक्ष भीषण रूप धारण करके दुःशासन की छाती चीरने वाला, रोम-रोम से प्राणवत, आँख-कान बंद रखने वाला लेकिन प्रत्यक्ष और यथार्थ में विश्वास रखने वाला सदेह-साकार पुरुष है। दुःशासन के रक्तपान के समय उसके वचन सुनकर औरतों के कलेजे काँपने लगते है, यही नहीं, हड्डियाँ गलने लगती हैं। उस प्रसंग को पढ़ने वाला भी काँप-काँप उठता है। भीम दुःशासन को पकड़ कर सबको चुनौती देता हुआ कहता है : 'अरे कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा मैं इस दुःशासन का वध करता हूँ। तुम सब एक साथ मिलकर उसे छुड़ाना चाहते हो तो छुड़ा लो।' तब वह दुःशासन के गले पर पैर रखकर कहता है—'अरे दुरात्मा! अपना वह हाथ तो बता, जिस हाथ से तूने अवभृत-स्थान से पवित्र द्रौपदी के केश खींचे थे।' वह उसका हाथ मरोड़ कर तोड़ देता है और युद्ध भूमि में फेंकते हुए उसके जोड़ीदारों को पुकारता है—

'जिस किसी को अपनी ताकत का घमड हो, आकर इस दुरात्मा को बचा लो!' दुःशासन की छाती चीर कर वह खड़ा-खड़ा लहू पीता है और युद्धभूमि में सब को सुनाकर कहता है—'माँ के दूध ने, मधु ने, बल्कि अमृत ने भी मुझे रुधिर जैसा स्वाद नहीं दिया।' ऐसे वाक्य कोई छाया-पात्र नही बोल सकता।

द्रौपदी के चीरहरण के समय कर्ण द्रौपदी को कैसे-कैसे न सुनने योग्य वचन कह देता है। दुर्योधन सभी पांडवों की खिल्ली उड़ाता है। बेसहारा द्रौपदी का उनमें से कोई भी सहायक नहीं रहता। अपने ज्येष्ठ भ्राता की अवज्ञा के भय से कुछ भी हो पाना संभव नही। तब भीम खौल उठता है। वह सहदेव से कहता है—'सहदेव अग्नि ला, जिस हाथ से महाराज ने द्यूत-क्रीड़ा की थी, ला उस हाथ को ही जला डालूँ। जुआरियों के घरों में बंधुआ मजदूर भी होते है, पर वे उनको दाँव पर नहीं लगा देते। अग्नि ला, अग्नि।' ये किसी काल्पनिक रूपक के सवाद नहीं हैं।

द्रौपदी वनवास में युधिष्ठिर को जिस तरह से क्षमा त्याग कर बैर लेने के लिए उकसाती है, वह किसी छाया-पात्र का हौसला नही हो सकता।

'क्षमाशीलता की तुम्हारी विपरीत बुद्धि पैदा करने वाले धाता या विधाता को मेरा प्रणाम। तुम कहते हो कि धर्म तुम्हारी रक्षा करता है, पर मैंने तो ऐसा कभी नहीं देखा। ईश्वर तो हमें नकेल डाले हुए बैल की तरह हाँक रहा है। वह माता-पिता की तरह व्यवहार करता तो दिखाई नही दिया, वह तो बल्कि हमारे साथ यों खेल रहा है जैसे बच्चे खिलौने के साथ खेलते है। मैं तो उसकी निंदा ही करूँगी।' याद रखने की बात है कि इसी द्रौपदी ने 'वेश्या' कहने वाले कर्ण के मुँह से धर्मराज के समक्ष प्रशंसा के ये वचन भी निकलवाए हैं कि धर्मराज को कौरवों की दासता से छुड़ाने का साहसिक कार्य इसी ने किया है। तुमने अनगिनत रमणियों के नाम सुने होंगे, पर किसी ने ऐसा पराक्रम नहीं दिखाया जैसा द्रौपदी ने दिखाया। एक स्त्री रूपी नौका ने डूबते पांडवों का उद्धार कर दिया।' आग की चिनगारी जैसी यह पतिव्रता नारी तलवार की धार जैसे तर्क से ओतप्रोत वचन बोलती है, क्या किसी अन्य प्रतीक पात्र का ऐसा बूता है? स्वयं श्रीकृष्ण, जिन्हें महाभारतकार ने साक्षात् ईश्वर कहा है, मनुष्य जैसे लगते हैं। युद्ध का प्रारंभ होते ही अर्जुन को विषाद में डूबा हुआ देखकर वे हँसते हुए जो कुछ कहते हैं, वह कोई मित्र

हीं कह सकता है

'प्रज्ञावादांश्च भाषसे।'

'मेरे भाई। तुम तो बिना बात सिरपच्ची करने लगे हो। तुम्हें तो इतना भी पता नहीं है कि विवेक-सम्पन्न लोग शोक करने योग्य नहीं होते— उन्हें लेकर शोक नहीं करना। तुम तो ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें करने लगे हो। रक्त से सने हुए राज्य का उपभोग करने की अपेक्षा भिक्षा माँग कर जीवन-यापन करने को श्रेष्ठ बता हुए ज्ञान और वैराग्य की वाणी बोलने लगे हो। पर तुम इतनी भी बात नहीं जानते कि जो असत् है वह कभी सत् नहीं होता। न सत् ही असत् होता है। ज्ञानी व्यक्ति जानते हैं कि कौमार्य, यौवन, जरा की ही भाँति मृत्यु और पुनर्जन्म स्वाभाविक हैं। तुम किस बात का शोक करने लगे हो ? जब हम पुराने वस्त्र उतारते हैं, उस समय रोने थोड़े ही बैठ जाते हैं।'

यह भाषा उपालंभ देने वाले स्नेही मित्र की है, किसी अस्पर्श्य-अगम्य तत्त्व की नहीं।

महाभारत में रक्त-मांस, काम, क्रोध, अभिमान, स्वमान, आशा, तृष्णा की चकरघिन्नी में चढ़ते-चढ़ते बीच में यह सब क्या आ जाता है? इस चकरघिन्नी की कोई स्थिर धुरी है भी या नहीं? इसका कोई गंतव्य स्थान होगा या नहीं? या फिर यह सब किसी बालक के हाथों विनाश-लीला है ? ऐसे प्रश्न पूछने और उत्तर ढूँढ़ने वालों तथा उत्तरों को लेकर दु:खी होने वाले स्त्री-पुरुषों की चरित-कथा मात्र है।

सत्यभामा तो श्रीकृष्ण की इतनी प्रिय और स्वाभिमानी है कि वह उनसे रूठ भी सकती है। वन पर्व में वह स्त्रियोचित सहजता से द्रौपदी से पूछ बैठती है : 'पांडव तुम पर इतने अनुरक्त हैं कि तुम्हारा प्रत्येक वचन पूरा करते हैं। वे मात्र तुमको ही देखते हैं, ऐसा क्यों ? तुम्हारे पास ऐसा क्या मंत्र या ताबीज है ?'

अपने पति पर प्रभुत्व स्थापित करने की सहज इच्छा कृष्णवल्लभा सत्यभामा की भी है। उन्हें भी क्षण भर के लिए ऐसा लगता है मानो किसी मंत्र-ताबीज का प्रभाव होगा। लेकिन द्रौपदी ऐसा उत्तर देती है जिससे एक सामान्य नारी में और धर्म को तलाशने वाली तथा धर्म से सम्बद्ध रहने में श्रेय अनुभव करने वाली नारी के मध्य का अंतर स्पष्ट हो जाता है। द्रौपदी उससे कहती है : 'मंत्र-ताबीज पर टिका प्रेम प्रेम नहीं, प्रपंच मात्र है। उल्टे,

उससे तो पति का प्रेम खोना पड़ता है। हल्की स्त्रियाँ उन साधनो का प्रयोग करती है। हम तो उनके बारे मे मुंह से कहे भी क्या? यह सही है कि मै पांडवों में अनुरक्त हूं, उनके कल्याण की चिता करती हूँ, अहकार-रहित उनकी सेवा करती हूँ और मात्र उन्ही मे अपना मन पिराये रहती हूं। उनके अलावा किसी पर-पुरुष मे मेरा मन नहीं जाता। इन्द्रप्रस्थ में एक जमाने मे युधिष्ठिर महाराज के यहां शंखचूड़ियाँ एवं सुवर्ण हार वाली एक लाख दासियाँ थीं, हजारों स्नातक और यति थे। मैं उन सबसे पहले उठती थी और सबसे अंत में सोती थी। यहाँ पर भी मै 'पतिनाम चित्तरक्षिणि' हूँ। कृष्ण को वशीभूत करने का मैं एक ही मत्र बता सकती हूं।'

सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यम्।
दुखेन साध्वी लभते सुखानि।।

वनवास में द्रौपदी ने क्या-क्या कष्ट नहीं झेले? हमेशा जमीन पर सोईं और बारह वर्षों तक सब को खाना खिलाने के बाद शाम को एक समय खाना खाया। ऐसी द्रौपदी को यदि पांडव अपने प्राणों से भी अधिक याद करते हों और उसकी महिमा गाने में आह्लाद अनुभव करते हों, तो इसमें कैसा आश्चर्य?

धर्म तथा अधर्म की परख करने का एक साधन यह है कि कोई व्यक्ति अपने अभीष्ट की प्राप्ति के निमित्त कैसे साधन काम में लाता है। सत्यभामा का मन है गंडे-ताबीज काम में लाने का, और द्रौपदी का मंत्र है दुख के पहाड़ टूट पड़ने पर भी सेवामय अनुवृत्ति।

महाभारत में विविध प्रकार के धर्मो का वर्णन-विवेचन किया गया है—कुलधर्म, जातिधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, नारीधर्म, वर्णधर्म, स्वधर्म, आश्रमधर्म आदि-आदि। मनुष्य को अनेक प्रकार के दायित्व-वहन करने होते हैं अत यह स्वाभाविक ही है कि विविध प्रकार के धर्मों की चर्चा की जाए। आदमी पति है, पुत्र है, पिता है, नागरिक है, सेठ या नौकर है। स्त्री पत्नी है, पुत्री है, माता है, वह परिवार मे है तथा राष्ट्र में भी है। उनके शरीर भी हैं तो आत्मा भी, बुद्धि है तो हृदय भी। मनुष्य कोई पत्थर का ढेला नहीं है कि जिसमें एक ही गुण हो।

इन समस्त विविधताओ मे खींचतान होनी स्वाभाविक है। पुत्र के नाते अमुक काम करने का अधिकार और पिता के नाते कुछ अन्य करने का

दायित्व आ पड़ता है। हृदय एक बात कहता है तो बुद्धि दूसरी बात कहती है। कुटुम्ब एक मांग रखता है तो राष्ट्र दूसरी मांग रखता है। वासना एक तरफ खींचती है तो विवेक दूसरी तरफ। ऐसा मर्मी ने अनुभव किया है और सदैव अनुभव करेंगे। इन विविध परिस्थितियों में कभी स्पष्ट तो कभी अस्पष्ट रूप से विविध धर्म विद्यमान रहेंगे। लेकिन जब उनमें खींचतान होती है तो प्रश्न आ खड़ा होता है कि उस समय किन प्रतिमानों से परिस्थिति का मापन-मूल्यांकन किया जाएगा, किसकी आज्ञा, किसकी शरण से मनुष्य का उद्धार संभव हो पाएगा?

महाभारत के कथा-प्रवाह में उसके उच्चतम पात्र ऐसी द्वन्द्वात्मक स्थिति में पड़े हैं कि हम उनके हृदय छिन्न-विछिन्न और लहू-लुहान होते देख सकते हैं।

इसका एक अनुपम दृष्टांत है द्रौपदी के चीरहरण का प्रसंग। संसार में दुःख किस पर नहीं आए? लेकिन अपनी निर्दोष प्रियतमा के वस्त्रों को भरी सभा में उतारे जाते देखना, दुष्टों के कटाक्ष, व्यंग्य-उपहास के बाणों से उसे सबके समक्ष बिंधते हुए देखना और निःसहाय अवस्था से उसे शक्ति होते हुए भी बचा नहीं पाना। भीम की गदा या अर्जुन का गांडीव पलक झपकते दुष्टों का विनाश करने में सक्षम हैं—बस विवशता यह है कि वे जुए में धोखे से हराये गए हैं और उन्हें धर्म द्वारा खींची गई रेखा का परिपालन करना है—यह स्थिति अग्निचिता में बैठकर अंगों को हिलने-डुलने न देने से भी अधिक कठिन है। धर्मराज क्रुद्ध भीम-अर्जुन को टोकते हैं। वे मोह या शोक किसी के वशीभूत नहीं हैं। बल्कि वे कहते हैं: 'मैंने जुआ खेला था और मैं हारा हूँ तो इस जहर के प्याले को मैं पीछे नहीं हटा सकता।'

अपने वचनों के परिपालन से बचने के लिए अनेक खिड़की-द्वार खुले होते हुए भी जिसने इधर-उधर ताका-झांकी नहीं की, ऐसी दृढ़ धर्मवृत्ति का दृष्टांत वेदव्यासजी ने द्रौपदी वस्त्र-हरण के समय विशाल मूर्ति युधिष्ठिर के व्यक्तित्व में साकार चित्रित किया है। इसके बावजूद धर्मराज यह बात वनवास में भी बराबर याद करते रहे थे कि मेरे कारण तुम सबको संकट सहना पड़ा है। इसके लिए दोषी मैं ही हूँ, पर जब तक वनवास का समय पूरा नहीं हो जाता, तब तक मैं कुछ भी करने की स्थिति में नहीं हूँ। धर्म मेरे लिए कोई व्यापार नहीं है कि मुझे लाभ मिलता हो तभी तक धर्म का पालन करूँ और नुकसान होता हो तो धर्म को ताक पर उठा कर रख दूँ। धर्म मेरे लिए

गाय नहीं है कि दूध दे तभी तक उसका पालन-पोषण करूँ। राज्य की मुझे जरूरत है। धन मेरे लिए त्याज्य नहीं। द्रौपदी की पीड़ा मुझे भी सालती है। उसका बदला मुझे भी लेना है, पर यह सब धर्म को पैरों तले रौंद कर, उसे विद्रूप करके या धर्मवंचक बन कर नहीं, क्योंकि धर्म के परिपालन से जो प्राप्ति होती है, आखिरकार वही सुख प्रदान करती है।

द्रौपदी भले ही आवेश में आकर बोल गई हो अथवा वह अपमान में सुलगती ज्वाला की तरह धधक उठी हो, लेकिन अंत में धर्मराज उसे वही उपदेश देते हैं, जो उसने सत्यभामा को दिया था कि 'असद् आचरण करने वाले लोग जो मार्ग पसंद करते हैं वह सत्याचरण वाले पसंद नहीं करते।' अंतर सिर्फ इतना ही है कि द्रौपदी आंदोलित हो जाती है और धर्मराज स्थिर हैं। धर्मराज के जीवन में भी वेदव्यासजी ने अस्थिर हो जाने का एक प्रसंग वर्णित किया है। भगवान को छोड़कर भला कौन पूर्ण है। उनके बराबर मनुष्य को पूर्ण चित्रित किया जाता है तो यह उसे भगवान के स्थान पर बिठाने जैसी नास्तिकता हुई—संभवतः व्यासजी के मन में यही बात रही हो।

जब द्रोण यमराज की भाँति शास्त्र-निषेध की अवज्ञा करके लोगों का उन दिव्य अस्त्रों से संहार करने लगे, जिनका उपयोग करना वे जानते तक नहीं तब युधिष्ठिर ने सोचा कि इस तरह से तो कोई बचेगा भी नहीं और जीवदया, भ्रातृप्रेम तथा किंचित राज्यलोभ के वशीभूत होकर वे झूठ बोल गए—'अश्वत्थामा मारा गया।' अगली बात वे अपने मन ही मन बोल गए, 'भले ही वह हाथी हो या मनुष्य।'

लेकिन यह उनके पश्चात्ताप का क्षण है। उनमें न आनंद है, न उत्साह। वे गिरे और खंडित हुए—इसका उन्हें दुःख है।

एक बार की उनकी यह पदच्युति हमारे लिए उनके धन्य स्वरूप को अधिक उज्ज्वल रीति से प्रकट करने में सहायक बन गई है। धर्म तो सिर का बयाना है अर्थात् धर्म के बदले अपना सिर कटाना पड़ता है। उसके परिपालन में उसके भक्त का स्खलन भी उसको वेदना-जल में धोकर अधिक शुभ बनाता है। वह भूल करता है, पर वह उसके लिए खिन्न होकर पछताता भी है। यह सब पीड़ा मनुष्य को सताती है, पशु या देवता को नहीं। यह पीड़ा नहीं है, न यह चिंता है। सिर्फ धर्मराज ही इस

दूसरा

फंसे हों, ऐसा नहीं है। अर्जुन श्रीकृष्ण के परम सखा हैं—उनके दूसरे हृदय हैं। दिव्यास्त्र विद्या सीखने जाते समय उनको भी उर्वशी का शाप झेलना पड़ा था।

उर्वशी देवलोक की अप्सरा। देव मात्र की काम्या। अर्जुन ने देवलोक को हथियाने के लिए आने वाले निवात कवच राक्षस का संहार किया था। जिस पाशुपतास्त्र के द्वारा अर्जुन मृत्युलोक में भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि पर विजय प्राप्त करके निष्कंटक होने की बात सोचे था, उसका उसने अतिथि धर्म रूप में देवों को बचाने के लिए उपयोग किया और दिव्यास्त्र द्वारा देवताओं को निष्कंटक बना दिया। अर्जुन के इस पराक्रम से मुग्ध होकर इन्द्र की आज्ञा से उर्वशी उससे स्वतः प्रणय करने आई। पर अर्जुन ने उर्वशी को सम्पूर्ण कुरुवश की माँ के रूप में देखा। पुरुरवा अर्जुन के पूर्वज थे, जिनकी यह प्रणयिनी थी। उन्हीं से कुरुवंश शुरु हुआ था। कुरुवंश की जननी अर्थात् अर्जुन की जननी। यह मूल्यदृष्टि देवताओं की नहीं मानवीय थी। देवों की तो वह अप्सरा थी—सदैव प्रवहमान अनाविल जल के समान सौंदर्य बिखेरने वाली सुरामूर्ति।

अर्जुन के लिए तो वह उसके पूर्वज पुरुरवा की पत्नी थी, अत: रिश्ते से माता हुई। भला उसे वह माता से भिन्न किसी अन्य रूप में कैसे स्वीकार करे ?

जिसके मोह में देवता, ऋषि और राजर्षि तक आकर्षित हो गए थे, अर्जुन उसमें निश्चल रहा।

त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत् त्वया।

इस दृढ़ता के लिए उसे नपुंसक बनने का शाप झेलकर मूल्य चुकाना पड़ा। नरवीरों मे जो श्रेष्ठ कहा जाता है, भला वह नपुंसक! कैसा कठोर अपमानजनक दंड भोगना पड़ा है। पर धर्म की गति सूक्ष्म है। वह अनिर्धारित समय पर अनिर्धारित रीति से बुद्धिमानो की बुद्धि और बलवानों के बल को लाँघ कर तमाम व्यूहों के पार निकल जाता है।

इसी नपुंसकता के शाप की बदौलत अर्जुन विराटनगर में पूरे वर्ष गुप्त रह सका। उसका अपमान ही उसके उद्धार का निमित्त बन गया। शाप के रूप मे यह वरदान न मिला होता तो भला सूरज किस बिध छबड़ी में छिप पाता।

महाभारतकार वास्तव-द्रष्टा हैं। उन्होंने कहीं भी ऐसा चित्रण नहीं किया कि इस अपूर्ण संसार में धर्मपालन करने में कष्ट उठाने न पड़ते हों याकि धर्मपालन कोई सहज वस्तु हो या धर्म-अधर्म का ज्ञान गोते खाए बिना आसानी से मिल जाता हो। उल्टे उन्होंने तो ऐसा चित्रण किया है कि जगत और जगन्नियंता धर्म का पालन करने वाले की कड़ी परीक्षा लेते हैं। बाहरी दृष्टि से उसका सभी कुछ हर लेते हैं उसे हँसी का पात्र बना देते हैं, शरशय्या पर सुलाते हैं, और कभी-कभी तो उसके परिजन भी उसके नहीं रहते।

मथुरा पर जब अठारहवीं बार हमला हुआ था तब श्रीकृष्ण के अपने ही लोगों ने उनसे और बलराम से मथुरा छोड़ कर चले जाने को कहा था कि 'तुम दोनों के कारण हमें यह सब सहना पड़ता है। जब तक तुम यहाँ रहोगे तब तक जरासंध बार-बार आक्रमण करता रहेगा, अत यही अच्छा होगा, यदि तुम लोग अब यहाँ से चले जाओ।'

वस्तुतः सच्चाई यह है कि कृष्ण-बलराम ने उन लोगों को कंस के जुल्मों से बचाया था और अंधकवृष्णियों का गणराज्य वापिस स्थापित किया था। सिंहासन स्वयं ने नहीं लिया था। उनके अपने शब्दों में कहें तो—वे स्वयं तो 'गणभृत्य' ही थे। फिर भी लोगों ने अपने रक्षकों को जन्मस्थान छोड़कर चले जाने को कहा। महाभारत में वर्णित मानव-स्वभाव की समझ कोई कल्पना अथवा स्वप्नरंगी नहीं है। मानव-मन के निम्नतम स्तर पर पड़ी रहने वाली जुगुप्सा-कारक वृत्तियाँ रत्ती भर भी उससे बाहर नहीं होती, पर उसमें विद्यमान देवत्व के कारण वह उनसे ऊपर उठता हुआ ईश्वरत्व का अवगाहन कर सकता है। व्यासजी ने यहाँ धर्माभिमुख और कामाभिमुख व्यक्तियों के बीच का अंतर सूक्ष्मता से व्यक्त किया है। धर्माभिमुख युधिष्ठिर, अर्जुन, द्रौपदी, कुंती बल्कि नन्हीं उत्तरा भी संकट के समय विशेष रूप से ईश्वराभिमुख हो जाती है। मरे हुए जन्मे परीक्षित को देखने के लिए जब श्रीकृष्ण प्रसूति गृह में आते हैं तब उत्तरा रोना-पीटना नहीं मचाती। गोदी में लिए परीक्षित से वह स्वस्थतापूर्वक मार्मिक स्वर में कहती है : 'अरे पुत्र! क्या तू कुरुवंश का आचार-व्यवहार नहीं जानता। वासुदेव को प्रणाम करने के लिए तू उठता क्यों नहीं?'

दुख आने पर कई लोग अधिक नास्तिक हो जाते है तो कई अधिक आस्तिक बन जाते हैं। और उनमें से शरशय्या पर सो जाने की, क्रॉस पर चढ़ने की, विषपान करने की, प्रायोपवेशन करके प्रतिक्षण आत्मविलोपन

करने की शक्ति का मूल ऐसे लोगों की अप्रतिहत, अहेतुक भक्ति है। महाभारत के प्रारंभ में आदिपर्व में व्यासजी ने कह दिया है कि यह कथा भगवान वासुदेव की है।

भगवान्वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च।।

यहाँ उन्होंने 'कृष्ण-वासुदेव' शब्द नहीं लिखा अपितु भगवान वासुदेव लिखा है। यह सही है कि वे वसुदेव के पुत्र हैं, पर तप, योग, ज्ञान और जीवदया के द्वारा वे जिस भगवान पद पर पहुँचे हैं, उनकी कीर्ति का यहाँ गुणगान किया गया है।

यह बात व्यासजी ने प्रथम अध्याय में ही कह दी है, वैसे श्रीकृष्ण तो ठेठ द्रौपदी स्वयंवर के समय कथा-प्रवाह में प्रविष्ट होते हैं। तब तक कुरुवंश की कथा चलती है। फिर भी इस ग्रंथ के प्रणेता के मन में तो उस विभूति के कीर्तन की ही अभिलाषा है जिसने तप-ज्ञान-योग के द्वारा सभी लोकों के असहायों, भयभीतों एवं पददलितों का निरंतर कल्याण किया है।

इस प्रकार कहना न होगा कि महाभारत में और स्वयं गीता में दो कृष्ण हैं। वसुदेव का पुत्र, कुंती का भतीजा, द्रौपदी का सखा, अर्जुन का सारथि, युधिष्ठिर का सचिव तो है एक कृष्ण। और दूसरा कृष्ण वह है जिसका स्तवन करते-करते भीष्म का रोम-रोम पुलकित हो जाता है, जिसकी वंदना व्यासजी करते हैं; विदुरजी जिसके भक्त हैं—वह योगेश्वर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण है। कृष्ण इन दोनों भूमिकाओं में सहज विचरण करते हैं। अपनी केशराशि दिखाती हुई बदला लेना चाहने वाली द्रौपदी को वे सगे-संबंधी की भाँति आश्वासन देते हैं, और अगले ही क्षण अर्जुन से कह देते हैं :

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।।

'हे अर्जुन! तेरे और मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं। परंतप! यह तुम नहीं जानते, मैं जानता हूँ।' इसी तरह वे विराट-दर्शन कराते हैं :

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः।।

'हे पार्थ! मेरे सैकड़ों-हजारों रूप देख। देवतागण भी मेरे इन रूपों को देखने के लिए तरसते रहते हैं।'

महाभारतकार के लिए निःशंक रूप से श्रीकृष्ण भगवान पुरुषोत्तम है। ऐसी शंका भीष्म, द्रोण या विदुर को भी नहीं है। युद्ध के आरंभ में युधिष्ठिर द्रोण से आशीर्वाद लेने जाते है तो वे सहज सरलता से कहते है

यत: कृष्णस्ततो धर्म । यतो धर्मस्ततो जय ।।

जहाँ कृष्ण हैं वहां धर्म है और जहाँ धर्म है वहाँ जय है। उन्होने यह नहीं कहा कि जहाँ धर्म है वहाँ कृष्ण है। जहाँ धर्म है वहां युधिष्ठिर है, यो भी कहा जा सकता था, पर यहाँ तो वे जहाँ कृष्ण है वहाँ धर्म है, यों कहते है। इसका यह अर्थ हुआ कि धर्म कृष्ण का अनुसरण करता है। कृष्ण अर्थात् पुरुषोत्तम कृष्ण, धर्म के भी उज्ज्वल स्थान; धर्म के भी गोसा—आधार।

युधिष्ठिर, अर्जुन, द्रौपदी, व्यास, विदुर सब के सब श्रीकृष्ण से यों बँधे हुए हैं ज्यों बछड़ा खूँटी से बँधा रहता है। यही कारण है कि वे कष्ट सह सकते है तथा निराशा को पी सकते हैं। भौतिक अभाव उन्हें दीन नहीं कर सकते।

धर्म की समझ और धर्मपालन की मनोवृत्ति का उदाहरण उद्योग पर्व में मिलता है जहाँ दुर्योधन और अर्जुन श्रीकृष्ण से मदद लेने जाते हैं।

युद्ध का निश्चय हो चुका था। मदद के लिए देश-देश में दोनों पक्षों के दूत भेजे जा चुके थे। लेकिन श्रीकृष्ण किसका साथ देंगे? जिस किसी को भी उनका बल मिलेगा, उसी की शक्ति बढ़ जाएगी। अतः दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही मदद माँगने द्वारिका पहुँचे। दुर्योधन को समयानुसार नम्रता प्रदर्शित करना आता है। राजकुमारों में यह सहजता होनी चाहिए। उनका श्वासोच्छ्वास ही बल की समतुला है। पर स्थूल बल के अतिरिक्त भी कोई अन्य बल होता है, इसे जानने की उनके पास दृष्टि शायद ही कभी होती है। यदि होती भी है तो ऐसे समय खुली नहीं रहती।

दुर्योधन आकर भगवान के तकिये की तरफ बैठ गया। पैरों की तरफ बैठता तो कहीं अभिमान को ठेस लग जाती। अर्जुन को ऐसा अभिमान था ही कहाँ? उसे तो भगवान के चरणों के पास बैठने में अंशमात्र भी छोटापन नहीं लगता था, अतः वह पैरों की तरफ बैठ गया। भगवान की दृष्टि उठते ही पहले उसी पर पड़ी। कवि व्यासजी संकेतों द्वारा अनेक दिशाएँ खोल देते है। बाद में विशाल जन समुदाय को आर्द्र बना देने वाले भक्तिमार्ग की व्याख्या कर देते हैं।

दुर्योधन अत्यंत मधुरता से और भद्रजनों के विवेक से कहता है : 'मुझसे और अर्जुन से तो आपकी एक जैसी मित्रता है, एक सरीखा संबंध है। आपकी मदद माँगने के लिए मैं पहले आया था और सदाचारी पुरुष पहले आने वाले की प्रार्थना सुनकर उन्हें सहायता प्रदान करते हैं। आप तो इस समय संसार के सत्पुरुषों में श्रेष्ठ हैं, सब आपकी तरफ सम्मान की भावना से देखते हैं। अत: आप तो सत्पुरुषों के इस आचार की परिपालना कीजिए, यही मेरी प्रार्थना है।'

भगवान तो भगवान है। उन्हें तो सबके पेट की सातवीं तह में चलता पानी भी नजर आता है। इसलिए इस कलिपुरुष की नाड़ी में क्या है, यह उनके लिए कोई अजानी बात थोड़े ही थी। वे बोले : 'राजन्! आप पहले आए है, इनमें संदेह नहीं है, पर मैंने कुंतीपुत्र अर्जुन को पहले देखा है। आए आप पहले, पर मैंने देखा अर्जुन को पहले, अतः अब मैं दोनों की मदद करूँगा। शास्त्रों का भी नियम है कि अगर कुछ देना हो तो छोटों को चुनने की पहले छूट दी जानी चाहिए। अर्जुन आपसे छोटा है अत: यह पहले माँगने का अधिकारी है।'

'देखिए, मैंने दोनों की मदद देने के लिए इस तरह विचार किया है : एक को मिलेगी मेरी विशाल सेना, और दूसरे को मिलूँगा मैं अकेला। फिर मैं युद्ध नहीं करूँगा। शस्त्र हाथ में नहीं लूँगा। यह प्रण है मेरा। तुम दोनों में अर्जुन छोटा है अत पहले वही माँगे।'

दुर्योधन ऐसे संस्कारों वाला व्यक्ति था कि जिसके लिए संख्या की ताकत ही असली ताकत होती है। कदाच अर्जुन सेना माँग लेगा तो क्या होगा? लेकिन अर्जुन को तो—

'अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम्।'

अर्थात् निःशस्त्र तथा सेनाविहीन केशव को मैं पसंद करता हूँ।

यह सुनकर दुर्योधन की तो कली-कली खिल गई। दोनो पक्षों की दो तरह की निष्ठाएँ थी—एक की अध्यात्म में, दूसरे की अधिभूत में। एक की धर्म में, दूसरे की संख्या-बल में। इससे अधिक अच्छी तरह भला और कैसे कहा जा सकता है?

भगवान अकेले हैं या उनके साथ सेना भी है। वे शस्त्रविहीन हैं या शस्त्रो से सज्जित हैं। इस तरह का विचार तो वही करता है जो भगवान को भलीभाँति जानता न हो।

अर्जुन ऐसी गणना करने वालो मे से नही है। अत उसे भगवान की प्राप्ति हुई तो श्री कृष्ण ने दुर्योधन के जाने के बाद पूछा 'पार्थ! मैं तो युद्ध लड़ने की मनाही कर चुका था, तब भला तुमने क्या सोचकर मुझे पसद किया?' तब अर्जुन ने कहा : 'आप अकेले ही सबका सहार करने मे सक्षम हैं, यह मै जानता हूँ; लेकिन पुरुषोत्तम! आपकी कृपा से मैं अकेले ही सहार कर डालूँगा।'

पुरुषार्थ भक्त का, आशीर्वाद भगवान का।

भगवान की कृपा हो तो लगड़े भी पहाड़ो को लाँघ जाते है और गूँगे भी बोलने लगते हैं। अर्जुन को इस आर्ष-वाणी में अथाह आस्था थी। यह आस्था ही दुःखों को अथवा पराजयों को सहने की शक्ति प्रदान करती है, मनुष्य को टूटने और खंड-खंड होने से बचाती है।

यह आस्था द्रौपदी में भरपूर है। तभी तो चीरहरण के अवसर पर सभा में अपना गौरव और अपने शील की रक्षा का सारा पुरुषार्थ अकारथ गया। पति-सुत-बाँधव, पिता, पितामह किसी ने भी उसकी सहायता का प्रयत्न नही किया। तब द्रौपदी ने आर्त स्वर में श्रीकृष्ण की पुकार की, जो प्रकट रूप में तो बंधु या सखा हैं, पर यथार्थ में विश्वपति है। प्रारभ में तो उसने—

'गोविन्द! द्वारिकावासिन! कृष्ण! गोपीजन प्रिय!

हे नाथ! हे रमानाथ! व्रजनाथार्तिनाशन!' कहते हुए पुकारा। वह सोचने लगी कि द्वारिका या व्रज के सीमित स्थान में रहने वाला तो भला कैसे दौड़ कर मदद के लिए आएगा, अतः उसकी अगली पुकार में कृष्ण का सर्वव्यापी, सर्वशरण, सर्वाश्लेषी स्वरूप आर्त्त वाणी में प्रकट होने लगा।

कृष्ण! कृष्ण! महायोगिन्! विश्वात्मन्! विश्वभावन!
प्रपन्नां पाहि गोविन्द! कुरुमध्येऽवसीदतीम्।।

विश्वात्मा, जिसको विश्व के किसी भी किनारे से व्यक्त मूक अथवा वैखरी द्वारा की जाने वाली सच्ची प्रार्थना शेषशय्या छोड़ने पर विवश कर देती है, उनमे ऐसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म सचराचर संवेदनशीलता है कि जो विश्व के सभी भावों को जानती है और जो महायोगी के रूप में सभी से युक्त है। उसे द्रौपदी ने पुकारा और कवि कहते हैं कि :

कृष्णं च विष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी।
ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा
समावृणोद् वै विविधैः सुवस्त्रैः।।

विशाल अरविंद सदृश नेत्रों वाले व्यासजी ने यहाँ अंतरिक्ष में खड़े होकर यों नहीं कहा कि भगवान ने नौ सौ निन्यानवे चीर प्रदान किए। वे ऐसा करने में सक्षम थे। पर व्यासजी ने लिखा कि अव्यक्त रूप में भगवान उनके वस्त्र में प्रविष्ट हो गए और द्रौपदी की लाज रख ली।

भगवान सर्वशक्तिमान है। उनकी गति विवर्धमान है—वह क्या है और क्या नहीं? वह क्या करती है और क्या नहीं? यह व्यक्त करने के लिए हमारी वाणी अत्यंत पंगु है। लेकिन कवि की वाणी इतनी अधिक पंगु नहीं है। उनकी पारगामी ऋतंभरा प्रज्ञा कहती है कि भगवान को द्वारिका से सदेह दौड़ कर आने की जरूरत क्या थी? वस्त्रों में भगवान स्वयं मौजूद हैं ना! उन्होंने उनमें प्रविष्ट होकर द्रौपदी की लाज बचाई।

सचराचर भगवान का सर्वव्यापीकरण, उल्टे इससे अधिक सार्थक हुआ है; वे चतुर्भुज रूप में स्वयं प्रकटे थे, उससे भी बढ़कर।

महाभारतकार के द्वारा प्रबोधित धर्म बुद्धि-प्रधान अथवा बुद्धिनिष्ठ मात्र नहीं है। महाभारतकार तीनों कालों के सर्वश्रेष्ठ मनीषी हैं। उनके अनुसार तात्त्विक अनुसंधान में अनिवार्य साथी के अथवा भोमिये के होते हुए भी बुद्धि अकेले अपने बूते पर यात्रा नहीं कर सकती। जब तक भगवान पर अनन्य एवं निर्व्याज श्रद्धा नहीं होती तब तक मंजिल तक पहुँच पाना कठिन होता है। तभी तो गीता में कर्म, अकर्म, विकर्म, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, प्रकृति-पुरुष, प्रकृति के तीनों गुणों—सब की सांगोपांग विवेचना करने के पश्चात् उन्होंने अंत में कहा है : 'तू मुझे स्मरण करके युद्ध कर।' अनासक्त रीति से युद्ध कर। इतना कहकर वे रुक नहीं गए, बल्कि उसी क्रम में आगे बोले कि 'मुझे स्मरण करके....।'

युधिष्ठिर आदि को पुरुषार्थ करना था। स्थिर बुद्धि से धर्म की छनावट करनी थी। फल की आशा रखकर कुछ भी नहीं करना था, लेकिन इन सब के लिए अंतत भगवान रूपी धुरी से सम्बद्ध रहना भी जरूरी था।

कई वर्ष पूर्व बापू के साथ हुए इसी बात का अनुमोदन करने वाले एक वार्तालाप का स्मरण आता है। राजकोट-सत्याग्रह चल रहा था। बापू भी उसमें आए थे। अनशन पूरा हो चुका था और वे 'राजकोट की प्रयोगशाला' शीर्षक से विविध लेखों में अपने विचार प्रकट कर रहे थे। सत्याग्रही, सत्याग्रह और विरोधी पर पड़ने वाले प्रभावों द्वारा सत्याग्रह और सत्याग्रहियों का मूल्यांकन आदि विषयों पर सूक्ष्म एव विस्तृत चर्चा चल रही थी। इस चर्चा में बापू ने सत्याग्रहियों हेतु नई नियमावली सूचित की जिसमें इस बात का उल्लेख था कि सत्याग्रही को ईश्वर में विश्वास होना ही चाहिए।

काठियावाड़ राजकीय परिषद् की कार्यकारिणी उनकी उपस्थिति में मिली थी। उस समय यदि मैं भूलता नहीं, तो श्री लक्ष्मीदास दाणी ने पूछा, 'बापू! यदि कोई कहे कि मुझे नीति और अहिंसा में पूरा भरोसा है, लेकिन मैं ईश्वर को नहीं मानता, तो क्या वह व्यक्ति आपके नये कथन के अनुसार सत्याग्रही नहीं हो सकता?'

बापू बोले : 'किसी की बात क्यों? जवाहरलाल का ही दृष्टांत ले लो। उसके जैसा नेकदिल देशभक्त अन्य कौन है? फिर भी वह मेरी नई व्याख्या में नहीं आता। सिर्फ बुद्धि अथवा तर्क से जो सत्याग्रही बनता है वह ईश्वर आस्था के अभाव में जब दुःख के पहाड़ आ गिरते हैं तब टूट जाता है।

महाभारत की कथा का यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है कि धार्मिक मनुष्य के लिए धर्मपालन में भगवद्-निष्ठा और भगवद्-भक्ति दुःख रूपी समुद्र से तैर कर बाहर निकलने के लिए नौका के समान हैं।

हर किसी की ऐसी निष्ठा तथा भक्ति एक-समान नहीं होती, पर भगवान तो जिसकी जितनी निष्ठा या भक्ति होती है, उसे उतना और वैसा ही फल प्रदान करते हैं।

पर इन तमाम भक्तों का एक सर्व सामान्य लक्षण है कि उन सब का मुँह एक ही दिशा में है। गति भले ही कमोबेश हो, पर वे सब कमोबेश दैवी सम्पत्ति से युक्त होते हैं। लेकिन जिनका मुँह विपरीत दिशा में हो, ईश्वर के बजाय जहाँ अहं की प्रधानता हो, वे सब ईश्वर विमुख तथा आसुरी-सम्पत्ति से युक्त होते हैं।

भीष्म के हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति निष्ठा एवं भक्ति दोनों है। राजसूय यज्ञ के समय पहला अर्घ्य किसे दिया जाए, यह प्रश्न पूछे जाने पर

भीष्म ने श्रीकृष्ण का नामोल्लेख किया था। युद्ध से पूर्व, युद्ध के दरमियान अथवा युद्ध के पश्चात् श्रीकृष्ण के प्रति उनकी आदर-भक्ति रंच मात्र भी घटी नहीं थी। फिर भी कृष्ण एक तरफ है और भीष्म दूसरी तरफ। वे हँसते हुए एक-दूसरे पर शस्त्र-प्रहार करने अथवा झेलने को तैयार हैं।

भीष्म जानते हैं कि विजय पांडवों की ही होगी। वे स्वयं भी पांडवों की विजय चाहते हैं, तथापि वे कौरवों का पक्ष त्यागते नहीं। इसमें हृदय दौर्बल्य की बजाय समझदारी में फर्क है।

आज की परिभाषा में कहें तो भीष्म विधि-नियमों से बँधे रहने वाले जीव हैं। उनको यह पसंद नहीं कि वर्षों की प्रचलित परंपरा अथवा प्रणाली टूटे। वे प्रत्येक नियम को कट्टर अनुशासनवादी की नजर से देखते हैं। यही वजह है कि द्रौपदी वस्त्रहरण के समय भीष्म कोई निर्णयात्मक भूमिका अख्तियार नहीं कर पाए। उनकी समझ कुछ इस प्रकार थी कि

(क) द्यूत क्रीड़ा राजाओं के लिए मृगया जैसी ही धर्म-स्वीकृति-प्राप्त क्रीडा है।

(ख) किसी भी क्षत्रिय को द्यूतक्रीडा या द्वंद्वयुद्ध के लिए आमंत्रित किया जाए तो मुकाबला करना उसका क्षात्र-धर्म है।

(ग) युधिष्ठिर स्वेच्छा से द्यूत के लिए गये थे और स्वेच्छा से हारे थे।

(घ) द्रौपदी भी द्यूत में जीती हुई है और उसके मालिक को यह अधिकार है कि जीती हुई वस्तु को लेकर वह कैसा व्यवहार करता है। दासियों के साथ उनके मालिक दयाहीन, संस्कारहीन अथवा लज्जाहीन व्यवहार करते ही हैं अतः नियम या परंपरा की दृष्टि से द्रौपदी की स्थिति करुणाजनक होते हुए भी उसका पक्ष नहीं लिया जा सकता। यदि पक्ष लिया जाता है तो फिर दास, अदास, द्यूत में हारे हुए या जीते हुए के बीच कोई फर्क नहीं रह जाता।

(ङ) यह सब कुल का नाश करने जैसा घृणास्पद दुष्कृत्य है, पर है नियमानुकूल।

द्रौपदी बार-बार पूछती है कि युधिष्ठिर पहले हारे थे अथवा हारने से पहले उन्होंने मुझे दाँव पर लगाया था?

इस सूक्ष्म प्रश्न के पीछे द्रौपदी का आशय इतना ही था कि यदि युधिष्ठिर ने स्वयं को पहले दाँव पर लगाया था और हारे थे तो बाद मे उन्हें मुझको दॉव पर लगाने का कोई हक नहीं था। यदि उन्होने बाद में मुझे दॉव मे लगाया था तो उनका यह कदम गलत था। प्रत्यक्षत इस दलील मे सामर्थ्य तथा सूक्ष्मता दिखाई देती है क्योकि गुलाम किसी स्वतंत्र व्यक्ति को दॉव में लगा ही कैसे सकता है। जो व्यक्ति स्वय अपना नहीं, जो स्वय पराधीन है, वह किसी अन्य स्वायत्त-स्वाधीन व्यक्ति को दांव में क्योंकर लगा सकता है ?

नन्हें विकर्ण को अन्य घबराए हुए लोगों के मध्य प्रश्न मे विद्यमान तार्किकता तथा न्याय दृष्टिगोचर हुआ। उसमें हिम्मत थी, इसी से उसने साफ-साफ कह दिया कि द्रौपदी को गलती से दाँव पर लगाया गया है। विकर्ण जवान था। उसे परंपरा और नियमबद्धता का गहरा अनुभव नहीं था, न ही उसमें भीष्म के जितना परंपरा अथवा नियमों के प्रति आदर था।

भीष्म इस प्रश्न को अलग ढंग से देखते हैं। युधिष्ठिर हार गए, दास हो गए, तब वे स्वतंत्र नहीं। यदि उन्होंने द्रौपदी के अतिरिक्त किसी अन्य स्वतंत्र व्यक्ति को दाँव पर लगाया होता तो वह गलत था, पर द्रौपदी तो उनकी भार्या है, युधिष्ठिर भर्त्ता है। पत्नी तो पति का अविभाज्य अंग होती है। यदि उसे स्वायत्त मान लें तो फिर संसार चलेगा ही कैसे? अत॰ पति पत्नी को दाँव पर लगाता है तो उसमें विधान की रीति-नीति का विच्छेदन नहीं होता। गुलाम की मिल्कियत उसके मालिक की होती है, यह स्वयं सत्य है। अब वह छोड़े या न छोड़े, यह चर्चा करना निरर्थक है। इधर से देखो चाहे उधर से, सब बराबर है। ऐसा दृश्य देखने पर तो आँखों के सामने अँधेरा आएगा ही आयेगा। अतः भीष्म स्वयं से सीधे-सीधे पूछे गए प्रश्न का इतना ही उत्तर देते हैं कि 'धर्म का तत्त्व गुहा में निवास करता है। उसकी गति अत्यंत सूक्ष्म है और निर्णय करना कठिन। पर युधिष्ठिर स्वयं धर्मपुरुष है। तू उन्हीं को पूछ कर उत्तर प्राप्त कर ले।'

दूसरी तरफ जब परंपरा अथवा प्रचलित नियमों का लाभ पांडवों को मिल रहा होता है तब वे वह लाभ पांडवों को देने के लिए तैयार हो जाते हैं।

गोग्रहण की वेला में जब अर्जुन बृहन्नला के वेश में चूड़ियाँ उतार कर शंखनाद करता है तभी दुर्योधन व कर्ण उसे पहचान जाते हैं (यह कलेजे

को कंपा देने वाला घोर शंखनाद अर्जुन का ही हो सकता है।) दुर्योधन भीष्म से कहता है, तो अच्छी बात है। अभी गुप्तवास कहां पूर्ण हुआ, अत: फिर से बारह वर्ष तक उन्हें वनवास भोगना होगा—क्यों पितामह!

यह सुनकर भीष्म तत्काल कह देते हैं कि 'तेरह वर्ष तो पूर्ण हो ही चुके हैं, ऊपर से पाँच महीने बारह दिन और बीत गए हैं। पांडव समय से पहले प्रकट नहीं हुए' अत: अब उनको राज्य वापस लौटाना होगा। गणना का यह अंतर सूर्य एवं चंद्र वर्ष की गणना के भेद को लेकर है। दोनों गणनाएँ चलती हैं। वनवास के समय कोई स्पष्टता तो थी नहीं, अतः भीष्म को पांडवों के पक्ष में निर्णय देने में कोई संकोच ही नहीं था।

इतिहास-परंपरा क्या है और क्या होनी चाहिए, भीष्म इसके श्रेष्ठ ज्ञाता हैं। इसके भंडार हैं। तभी तो युद्ध की समाप्ति पर श्रीकृष्ण युधिष्ठिर से यह आग्रह करते हैं कि पितामह के पास जाकर अतीत के अनुभव तथा ज्ञान की श्रेष्ठ दाय प्राप्त करें। भीष्म का यह अगाध पांडित्य बेजोड़ है, लेकिन नियमों की जानकारी तदनुसार क्रियान्वयन का आग्रह तथा नियम स्वयं में गैरवाजिब है या नहीं—ये प्रश्न पूछने की वृत्ति और तैयारी—ये दोनों भिन्न वस्तुएँ है, भिन्न शक्तियाँ हैं। एक वृत्ति है स्थिति की, दूसरी है गति की। एक है विधान-प्रियता और दूसरी है क्रांतिकारिता।

श्रीकृष्ण उस काल के क्रांतिकारी थे। नियमों और उनके परिपालन का महत्त्व स्वीकार किया जाए, तथापि कालग्रस्त अथवा जड़ धर्म की सुसंगति को चुनौती देने की स्वतंत्र-बुद्धि उन्होंने ही पाई है। विशेष रूप से जब दुष्ट लोग धर्म-वाक्यों का अधर्म करने के लिए आश्रय लेते है उस समय उनकी यह शक्ति सोलह कलाओं के साथ खिल उठती है। ऐसी नाजुक घड़ी में वे आधारभूत प्रश्न पूछने में सक्षम हैं कि पगड़ी के लिए सिर है या सिर के लिए पगड़ी? बाईबल की भाषा में कहें तो साब्बाथ (रविवार) मनुष्य के लिए है या मनुष्य साब्बाथ के लिए? (बाईबल : मार्क 2:27) अलबत्ता, ऐसा प्रश्न वही पूछ सकता है, जिसका चित्त मुक्त है। हर कोई व्यक्ति ऐसा प्रश्न नहीं पूछ सकता। मुक्त का अर्थ शास्त्र अथवा पद्धति से ही नहीं है अपितु अंततः जिसके दिल में अपनों परायों का भेद तक नहीं रह जाता, अर्थात् जिसकी ममता संसार के समस्त पदार्थों से ही नहीं अपितु स्वयं के व्यक्तित्व के साथ भी छूट जाती है। नारियल का गोला नारियल होते हुए भी जिस तरह उससे अलग हो सकता है, वैसे ही जो स्वयं अपने व्यक्तित्व से भी अलग हो

सकते हों, ऐसे लोग ही सुसंगत रीति से सुसंगत मात्रा में पूछ सकते हैं। उन्हीं में ऐसी सूक्ष्म तथा पैनी दृष्टि होती है। महाभारत के दर्शन के अनुरूप श्रीकृष्ण ऐसे ही श्रेष्ठ निर्मम अथवा सर्वंमम पुरुष हैं।

तभी तो उन्होंने भीष्म पर शरवृष्टि करके उन्हें गिरा देने के लिए अर्जुन को प्रेरित करने में संकोच नहीं किया। अर्जुन ममता के मारे धनुष नहीं चला पाता और राज्यदंड से बंधा हुआ वह बूढ़ा संहार करने से जरा भी नहीं हिचकिचाता। यह स्थिति देखकर श्रीकृष्ण को रथचक्र हाथ में लेकर युद्ध में कूद पड़ने में रत्तीभर भी संकोच नहीं होता। यह प्रवृत्ति भीष्म के लिए ही नहीं है, वे स्वयं गांधारी के शाप को हँसते हुए स्वीकार कर लेते हैं कि छत्तीस वर्षों के बाद उनके कुल का आंतरिक कलह के कारण नाश होगा और वे भी कुटुम्बविहीन हो जाएंगे। शाप को स्वीकार करते समय मन ही मन मानो वे कह रहे थे—'मेरे सगे-संबंधी भी धर्म का मार्ग छोड़ देंगे तो मर-मिटेंगे, इसमें कोई कर भी क्या सकता है?'

वे गांधारी को प्रणाम करते हुए कहते हैं, 'आपने जैसा कहा है वैसा ही होगा।' अर्थात् मदमत्तता कौरवों में होगी, तो वे मारे जाएंगे, दुःशासन में होगी तो मारा जाएगा और यादवों में होगी तो वे जीवित रह जाएंगे, ऐसे दो तराजू भगवान के पास नहीं हैं।

अंततः भीष्म भक्त हैं। वे धर्म-विमुख पुरुष नहीं हैं। बस, उनकी दृष्टि प्रचलित धर्म से परे स्थित धर्म तत्व तक हर बार नहीं जाती। यही नहीं, उन्हें यह भी पता है कि वे संविधान से जुड़े अधर्म के पक्ष में हैं। ऐसे में जब युधिष्ठिर उनसे यह पूछने जाते हैं कि आपकी मृत्यु कैसे होगी, तब वे सहजता से कह देते हैं कि 'कोई पुरुष सामने आकर मुझे मार ही नहीं सकता। हाँ, स्त्री सामने होने पर मैं उससे नहीं लड़ूँगा।' (युधिष्ठिर समझ जाता है कि शिखंडी की ओट लेने पर ही मुक्ति संभव है।)

कैसे अलौकिक हैं पितामह! स्वयं को मारने की इच्छा लेकर आने वाले को वे अपनी मृत्यु की कुंजी स्वयं बता देते हैं। इच्छा-मृत्यु पुरुष स्वयं मृत्यु की इच्छा करे। महाभारत महान है, क्योंकि इसमें महामानवों की अगोचर महत्ता का मानवीय मर्यादा की भित्ति पर अद्भुत आलेखन हुआ है।

मनुष्य भूमिति की आकृति नहीं है अपितु भगवान [illegible] ने मुक्तामुक्त छंदमयी कविता है।

दूसरा

प्रणालीगत धारा तथा धर्मतत्त्व के बीच के अंतर की समझ न होने पर कैसी उज्ज्वल करुणा सृजित होती है, इसका दूसरा उदाहरण है कर्ण। भीष्म धर्माभिमुख हैं, भले ही उनकी धर्मदृष्टि कभी-कभार परंपरा से आवृत्त हो जाती हो। लेकिन कर्ण तो समाज की उपेक्षा से आहत होने तथा अहंकार के कुसंग के कारण लगभग धर्म-विमुख है।

धर्म के बाह्यचिह्न—दान, जप, शौर्य आदि कर्ण में हैं। अपने सहजन्मा कवच-कुंडल इन्द्र को दान कर देने में वह संकोच महसूस नहीं करता। याचक को खाली हाथ न लौटाने का प्रण उसने ले लिया सो ले लिया। अब उसका चाहे जो परिणाम निकले! ऐसा व्रती कर्ण हमारे यहाँ प्रभात के प्रथम प्रहर का स्मरण बन गया है। उसे भी द्यूत में दासी बनी द्रौपदी को खोलते तेल के समान कटु वाक्य सुनाने में जरा भी शर्म नहीं आई। उसने कहा था—'वेश्याओं के भला नियत पति कहाँ होते हैं! इन कौरवों में से जो ठीक लगता हो, उसे पति बना ले। दासी विवस्त्र हो या सवस्त्र, इसकी भला क्या परवाह?'

दृढ़व्रती और दानवीर कर्ण भी इस प्रकार बोल सकता है, यह बात हमारी कल्पना मे ही नहीं आ सकती। यदि उसने इस तरह के वचन बोले हैं तो हमारे मन में ऐसा ख्याल आता है कि वह प्रातः स्मरणीय कैसे हो सकता है?

महाभारतकार साफ लिखते है कि कर्ण ने ऐसे कटुवचन बोले थे। इसका कारण यह है कि कर्ण में धर्म के निश्चित मार्ग से बाहर झाँकने या निकलने की सामर्थ्य ही नहीं थी। उसके मतानुसार जिसका अन्न खाया हो उसका साथ छोड़ना अधर्म है। उसके लिए प्राणार्पण करना धर्म है, फिर भले ही वह दुष्टता का मूल ही क्यों न हो! लेकिन एक बार जिसने आश्रय दे दिया, उसका पल्ला पकड़े रखना उसके लिए धर्म है। कितनी सतही व्याख्या है उसके धर्म की!

पर जीवन की पहेली इतनी आसान नहीं है। हलाहल विष पीने से शंकर नहीं मरे। यदि उनकी तरह सभी नकल करने लगें तो मरना निश्चित है। स्वामी की सेवा करना धर्म है, पर रावण सीता को हर लाया तो मंदोदरी का यह धर्म नहीं था कि वह स्वामी की हाँ में हाँ मिलाती। उसके सामने स्वामी को समझाने तथा न समझने की दशा में त्याग देने का मार्ग था। विभीषण की तरह वह स्वामी को त्याग नहीं सकी, पर उसमें इतना साहस

और ज्ञान था कि जबरदस्ती उठाकर लाई गई सीता को वापस सौपने के लिए उसने पति को समझाया। यह ज्ञान कर्ण को नही है। उसके लिए तो जिसका नमक खाया, उसके लिए मर-मिटना ही धर्म है। उसके लिए यह भी धर्म हो सकता था कि जिसे वह बचाने के लिए स्वय प्राणोत्सर्ग के लिए उद्यत था, उसका विरोध करता। पर इस विचार की तो उसमें झलक तक नहीं मिलती। शुरू में तो अर्जुन से द्वेष के कारण उसकी ऑख ही नहीं खुलती। लेकिन जब कुंती और कृष्ण उसको समझाते है तब उसके अंत:करण में कुछ सरसराहट होती है, लेकिन तब भी विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के झरने के गीत की भाँति वह सामाजिक नियमों की पर्तें तोड़कर बाहर नहीं आ पाता। वह सिर्फ इतना ही कह पाता है : 'मा! जाओ। पांडव पाँच ही रहेंगे। अर्जुन मरेगा तो मेरे लिए, और मै मरूँगा तो अर्जुन के लिए।' और वह कृष्ण से कहता है कि 'विजय तो आपकी ही होगी' ...'हमारी यह बात आप युधिष्ठिर से न कहें, अन्यथा वह धर्मराज राज्य नहीं लेगा मुझे सौंप देगा और मैं इसे दुर्योधन को दे दूँगा।'

जब उसकी आँखों का जाला हटता है तो उसे पता लगता है कि दुर्योधन की पराजय ही इष्ट है, पर इससे उसमें कोई विशेष पराक्रम प्रकट नहीं होता। इसका कारण है उसकी स्वामिनिष्ठा। वस्तुत: इससे भी ऊँचा धर्म था न्यायनिष्ठा। इस न्याय की प्रतिष्ठापना के लिए स्वयं की मान्यताएँ, दिये गए वचन, ली गई प्रतिज्ञाएँ, आज तक के स्नेहियों का वर्तुल, संक्षेप में— स्व-निर्मित संसार को छोड़ना ऊँचा धर्म था। पर कर्ण को इसका ज्ञान नहीं था। आखिर मे हल्की-सी झलक मिलती है, पर उसमे आत्मबल नहीं था, कि उच्च धर्म की पूरी झलक प्राप्त हो सके।

अपनी त्वचा से कवच-कुंडल उतार कर दे देना आसान था, पर मान्यताओं, प्रतिष्ठा, प्रणाली आदि के भ्रमपूर्ण कवच-कुंडल उतारना दुष्कर, अति दुष्कर था। यह दुष्करता सिर्फ कर्ण के लिए ही हो, ऐसी बात नहीं है। नियत धर्म तथा सनातन धर्म के बीच के अतर को समझना और समझ कर तदनुसार आचरण करना आजीवन तपस्या द्वारा मन-इंद्रियों पर आश्चर्यजनक संयम रखने वाले मुनियों के लिए भी यह दुष्कर है। इसका उदाहरण है उत्तंक ऋषि।

महाभारत का युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात् मरुभूमि से लौटते हुए श्रीकृष्ण से उत्तंक ऋषि का मिलाप हुआ। संसार के ध्वंस-निर्माण से

वे इतने अनिम थे कि अठारह अक्षौहिणी सेना के संहार का समाचार भी उन्हें श्रीकृष्ण बताते हैं तभी पता लगता है। वे तो अपनी कठोर तपस्या में लीन थे।

श्रीकृष्ण जब उनसे अपने लिए कोई सेवा-कार्य पूछते है तो उत्तंक ऋषि मरुभूमि में अक्सर पानी की समस्या को लेकर होने वाली तकलीफ बताते है। श्रीकृष्ण उन्हें कहते हैं : 'आपको जब भी पानी का कष्ट हो, मुझे स्मरण कर लीजिए, पानी आ जाएगा।'

एक बार उत्तक मुनि को जबरदस्त प्यास लगी और पानी कहीं नहीं मिला। तब उन्होंने श्रीकृष्ण का स्मरण किया। कृष्ण को लगा कि ऐसे महान तपस्वी के लिए सादा पानी क्या भेजें ? अतः उन्होंने इन्द्र से अमृत भेजने को कहा। इन्द्र बोला कि अमृत तो सिर्फ देवताओं के लिए है, फिर भी आपका आग्रह है तो भेज दूँगा।

इन्द्र ने अमृत तो भेजा, पर चांडाल के हाथों और वह भी चमड़े की मशक में भर कर। चांडाल अपने सात-आठ शिकारी कुत्तों के साथ अमृत से भरी मशक लेकर प्रत्यक्ष हुआ।

शुद्ध ब्राह्मण, महान तपस्वी, फिर शास्त्राभ्यासी! भला चांडाल के हाथ का पानी कैसे पी लेते! वर्ण-धर्म नष्ट हो जाएगा। इसके बजाय तो प्यासा रहना ही श्रेयस्कर है—यह सोचकर उन्होंने चांडाल को वापस लौटा दिया। भला समझो कि उन्होंने शाप नहीं दिया।

इस बात की श्रीकृष्ण को जानकारी नही थी। एक बार फिर से जब उत्तंक मुनि से उनका मिलाप हुआ और उन्होंने हालचाल पूछे, तो मुनि बोले, 'आप सबको झूठे आश्वासन देते फिरते है। मुझे कहा था कि स्मरण करते ही जल भेज दूँगा।'

'भेजा था ना!'

'क्या भेजा था ? चांडाल की मशक में ? वचन पालन का यह क्या ढंग है ?'

भगवान ने अंतर्दृष्टि द्वारा इन्द्र ने जो कुछ किया था, वह देख लिया। हँसते हुए बोले : 'मुनि! मैंने तो जल के बजाय आपके लिए अमृत भेजा था, पर आपने उसे खो दिया।'

वस्तुत ऋषि की दृष्टि चमडी के उस पार नहीं गई, क्योंकि वह प्रचलित धर्म की चमडी में ही समाई हुई थी। ऐसे लोगों को अमृत की प्राप्ति नहीं होती। अमृत तो उसी को प्राप्त होता है जिसकी दृष्टि जरूरत पड़े जीर्ण-शीर्ण सीमाओं के इस पार तक पहुँचती हो।

श्रीकृष्ण थे ऐसे सीमोल्लघन करने वाले।

श्रीकृष्ण का चरित्राकन करते समय महाभारतकार के मन मे ऐसी धारणा थी कि प्रचलित धर्म की बराबरी मे उस धर्म का मूल स्थान भी एक उच्चतम धर्म है और जब प्रचलित धर्म तथा सनातन धर्म टकराते है तब उच्चतर धर्म से सम्बद्ध रहना चाहिए अथवा उस दिशा में जाने वाले धर्म को चुनना ही वांछनीय होता है। इसी मान्यता को साकार करने के लिए महाभारत के प्रणेता ने श्रीकृष्ण का चरित्राकन किया है—यह भी एक संभावना है। इस नाते उन्होंने पहले तो श्रीकृष्ण को मोह-ममता से परे तथा समदर्शी कल्पित किया है। कौरवों का भला हो, यह बात भी उनके मन में है, पर समदर्शी शब्द का मोहावरण उन्हें पसंद नहीं आया।

महाभारतकार की समदर्शिता का विचार भले-बुरे, पापी-पुण्यात्मा, दुष्ट-सज्जन सब के लिए एक-समान नहीं है। जो भले, सज्जन और पुण्यशाली हैं, उनकी तरफ समान-दृष्टि वाले पुरुषों का पक्ष झुकता है। उन पर पड़ने वाले दुखों के लिए उनका हृदय अधिक द्रवित होता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए सुरभि का प्रसंग वर्णित हुआ है।

व्यासजी ने अपने अंधे पुत्र को धर्म मार्ग पर लाने के लिए कई बार समझाया था कि वह पांडवों को उनका आधा भाग सौप दे।

एक बार ऐसी ही एक मुलाकात के समय धृतराष्ट्र ने जवाब दिया : 'आप तो कौरव-पांडव दोनों के पितामह हैं फिर ऋषि भी हैं, आपको तो समदर्शी होना चाहिए। आप पांडवों का पक्ष क्यों लेते हैं?'

तब व्यासजी ने सुरभि का आख्यान कह सुनाया :

देवताओं की गाय एक बार मार्ग में रोती-रोती इन्द्र के पास जा पहुँची। इन्द्र ने रोने का कारण पूछा, तो बोली : 'नीचे मृत्युलोक की ओर तो देखिए! वह मानव मेरे एक पुत्र को पैनी लकड़ी से कितना कष्ट दे रहा है? जिस ढंग से वह आर चुभोता है, उसे देखकर तो मुझे रोना आता है।'

इन्द्र ने देखा कि पृथ्वीलोक के एक खेत में हल जोता जा रहा था। वहाँ खड़ा एक बैल मस्त था, तो दूसरा दुर्बल था—हाड़मांस का ढाँचा मात्र। उससे हल खिंच भी नहीं रहा था, अत किसान आर चुभो रहा था और डंडे अलग मार रहा था।

इन्द्र ने सुरभि से कहा : 'तेरे तो हजारों बेटे हैं, इस एक के लिए तू इतनी दु:खी क्यों है?' इस पर सुरभि ने कहा : 'हाँ, मेरे अनेक पुत्र हैं, लेकिन यह बेचारा बहुत दुखी है। दुर्बल तो है ही, ऊपर से यह त्रास की मार सहनी पड़ रही है। इसी कारण से मेरा हृदय भर आता है।'

व्यासजी बोले . 'मेरे लिए तो कौरव-पांडव दोनों मेरे पुत्र हैं, लेकिन पांडव दु:खी है, इसी कारण मुझे इतनी अधिक चिंता है।

भगवान के लिए तो यह बात स्पष्ट ही है। सभी मेरे हैं, फिर भी जो दुष्ट साधु-संतों को पीड़ा पहुँचाते है, उनसे बचाने के लिए मैं अवतार लेता हूँ। शब्दजाल में अटके रह जाने वाले समदर्शियों के धर्म की अपेक्षा यह धर्म उच्च है। अत. समदर्शिता की ढाल के नीचे भगवान किसी दुष्ट अथवा शरारती की दुष्टता और तर्क को चलने नहीं देते। वे हल्के तर्कजाल में फँसते नहीं। युद्ध के प्रारंभ मे भगवान ने अर्जुन से कहा था कि वे स्वयं समस्त कौरवों और उनके पक्षधरों का विनाश करने मे सक्षम हैं, पर इस युद्ध में वे हथियार नहीं उठाएँगे, मात्र अर्जुन के सारथि रहेंगे और सलाह देंगे। मित्र-वत्सल भगवान का एक हेतु अर्जुन को अपने बल पर विजय दिलाकर उसका गौरव बढ़ाना था। अर्जुन ने अकेले उन्हीं को माँगा था और याचना की थी : 'हे जनार्दन! मेरी इच्छा है कि मैं अपने बलबूते पर ही लड़ूँ और पराक्रम दिखाऊँ। आप तो सिर्फ मेरे सारथि बनें।'

लेकिन भगवान ने देखा कि भीष्म के समक्ष अर्जुन निर्मम बनकर नहीं लड़ सकता। पितामह के प्रति उसका प्रेम उसे क्रूर बाणवर्षा करने से रोक रहा है, जबकि भीष्म किसी की भी परवाह किए बगैर गत रात दुर्योधन के ताने से आहत होकर पृथ्वी को पांडव विहीन बना डालने के लिए यमराज के समान लड़ रहे थे। यही रफ्तार यदि शाम तक चलती रही तो युद्ध का नक्शा ही पलट जाएगा। कौरवों की विजय होगी और दुष्टों के विनाश तथा साधुओं के परीक्षण की प्रतिज्ञा का कोई मूल्य ही नहीं रह जाएगा।

दो प्रतिज्ञाओं को लेकर उनके अंतर में द्वन्द्व चल रहा था। युद्ध मे शस्त्र नहीं उठाऊँगा, यह एक प्रण था तो दुष्टों का संहार करके भक्तों की

रक्षा करूँगा, यह दूसरी प्रतिज्ञा थी। इन दोनो के बीच द्वन्द्व था। वे अर्जुन को दो बार सावधान करते है, चेतावनी देते है। जब वे देखते है कि अर्जुन पितामह को गिराने के लिए तैयार नहीं है तो वे स्वयं 'तुमसे नहीं होगा यह पराक्रम पार्थ! अभी देख मैं इनका सहार करता हूँ' कहते हुए युद्धभूमि मे टूटे हुए रथ का एक पहिया उठाकर साक्षात यमराज बने भीष्म का सहार करने दौड़ पड़े। सम्पूर्ण युद्धभूमि उनका यह तप्त अग्निज्वाल जैसा स्वरूप देखकर दिग्विमूढ़ बन गई। स्वयं भीष्म उनके स्वरूप की महिमा से मुग्ध होकर हथियार छोड़, हाथ जोड़ कहने लगे, 'आइए, आइए, चक्रपाणि! आपके हाथों से वध हो तो भला मेरे जैसा सौभाग्यशाली और कौन होगा?'

दसवें कदम पर अर्जुन उनसे लिपट पड़ता है, 'अब मै निर्बलता छोड़कर सचमुच लड़ूँगा।' इस तरह कहते हुए वह श्रीकृष्ण को लौटा लाता है।

इसमें भक्त वत्सलता तो है ही, मानवता भी है। पर रहस्य की बात यह है कि यह उच्चतर धर्म की समझ की आधारभित्ति पर खड़ा है।

यही भावना कर्ण-वध के समय साफ दिखाई देती है। भगवान ने कर्ण को दुर्योधन का पक्ष छोड़ने की बात समझाई थी। कर्ण ने धर्म की अपनी समझ के अनुसार अधर्म के मार्ग पर रहना स्वयं पसंद किया था।

युद्ध के अंतिम चरण में परशुराम के शाप के प्रताप से कर्ण के रथ का पहिया युद्धभूमि की कीचड़ में धँस जाता है, तो कर्ण उसे निकालने के लिए रथ से नीचे उतरता है।

युद्ध के सामान्य नियम के अनुसार ऐसे समय में आक्रमण नहीं किया जाता और कर्ण नियम के अनुसार रक्षा की माँग करते हुए अर्जुन को रुकने के लिए कहता है। उसे वीरधर्म का स्मरण भी दिलाता है। वीरधर्म की याद दिलाते ही अर्जुन झिझक जाता है, पर कृष्ण इस वीरधर्म की ओट में बच निकलने के आकांक्षी कर्ण के शब्दजाल में नहीं फँसते। बोले : 'आज तुम्हें वीरधर्म याद आया है? जिस क्षण तुम सब ने मिलकर नन्हें अभिमन्यु का वध किया था, 'उस समय इस धर्म को तुम लोगो ने याद क्यों नहीं किया? उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ था कर्ण?....'द्रौपदी का चीरहरण हो

रहा था, उस समय तुम्हारा वीरधर्म कहाँ चला गया था, कर्ण?'....लाक्षागृह के समय, घोषयात्रा[1] के समय तुम्हारा वीरधर्म कहाँ था, कर्ण?

महाभारतकार कर्ण की मृत्यु के लिए परशुराम के शाप को उत्तरदायी मानते हैं। परशुराम का व्रत था—कि ब्राह्मण के अलावा किसी दूसरे को वे धनुर्विद्या नहीं सिखाएँगे। कर्ण ने ब्राह्मण बन कर, गुरु को धोखे में रखकर पढ़ाई की थी, पर उसका दुर्भाग्य देखो कि ठेठ अंत में जाते-जाते गुरु को यह ज्ञात हो गया कि वह ब्राह्मण नहीं है।

ऐसे में परशुराम ने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि अंतिम क्षणों में तू मेरे द्वारा दी हुई विद्या को भूल जाएगा। कर्ण ने बहुत प्रयत्न किया, पर उसे मंत्र याद ही नहीं आए। तभी अर्जुन ने बाण चलाकर उसका सिर काट डाला।

सामान्य नियम के अनुसार जिसके हाथ में हथियार न हों, उसका वध नहीं किया जाता। हथियार ग्रहण न करने का मूल अर्थ यह होता है कि उसने मैदान छोड़ दिया है अथवा लड़ने का संकल्प छोड़ दिया है। लेकिन यदि कोई फिर से शस्त्र-सज्जित होने के लिए समय चाहे अथवा ढूँढ़ने पर भी जिसे शस्त्र न मिले, तो ऐसे योद्धाओं को अवध्यता का लाभ नहीं मिलता। इस अर्थ में कर्ण ने हथियार नहीं छोड़े थे। वह तो एक प्रचलित नियम का, हेतु के साथ सबंध न बैठे, ऐसा गलत लाभ लेना चाहता था। शाब्दिक दृष्टि से उसे लाभ मिल भी सकता था, पर शब्द के पिंजरे में फँसकर आत्महत्या करना अर्थ की हत्या करना था। पर शब्द की हत्या तो न हो, ऐसा अज्ञान श्रीकृष्ण में नहीं था।

कर्ण पर्व में जब कर्ण से पराजित तथा घायल होने की पीड़ा ने युधिष्ठिर के मन को व्यग्र बना दिया था और उन्होंने क्रोध में आकर अर्जुन से कह दिया था कि 'तू बड़ी डींगें मारता था कि कर्ण का वध कर डालूँगा। तेरे ही भरोसे पर मैने युद्ध शुरू किया था। अब अगर कर्ण को मारने का तेरा बूता न हो तो यह गांडीव क्यों पकड़ रखा है, केशव को क्यों नहीं दे देता?'

---

1. द्रौपदी के वस्त्रहरण के पश्चात् पाडव वन मे गये थे। वहाँ कौरव घूमने-फिरने, जलक्रीड़ा करने तथा मौज-मजे के लिए सेना के साथ गये थे। मतलब यह था कि पाडवों को और द्रौपदी को इस तरह से दुखी किया जाए। परंतु हुआ कुछ और। चित्रसेन गधर्व के साथ कौरवों का झगड़ा हो गया जिसमें चित्रसेन ने कौरवों को हरा दिया। कर्ण भाग गया। दुर्योधन कैद कर लिया गया। तब कौरवों के चाकरों ने भागकर पास ही पाडवों को यह समाचार दिया। युधिष्ठिर के आग्रह पर भीम और अर्जुन ने जाकर चित्रसेन को हराया और दुर्योधन को मुक्त कराया। (अनुवादक)

उधर अर्जुन का प्रण था कि यदि कोई उसे गांडीव छोड़ने की बात कहेगा या गांडीव की आलोचना करेगा, तो वह उसका वध कर डालेगा। अत: युधिष्ठिर के कटु वचन सुनते ही अर्जुन ने म्यान से तलवार खींच ली और उसे मारने के लिए तैयार हो गया।

उस समय श्रीकृष्ण ने उसे रोकते हुए कहा कि 'तू पागल हो गया है क्या! तू बड़े भाई की हत्या का ऐसा पाप-कृत्य करने जा रहा है जिससे दुश्मन को खुशी होगी।'

अर्जुन बोला : 'केशव! मेरी प्रतिज्ञा है कि यदि कोई मुझे गांडीव छोड़ने को कहेगा या उसकी निंदा करेगा, तो मैं उसे नहीं छोड़ूंगा।'

इस पर श्रीकृष्ण बोले : 'अर्जुन! तूने जो प्रतिज्ञा की है वह ठीक है, पर तूने बड़ों-बुजुर्गों की सेवा नहीं की। इसीलिए तुझे प्रतिज्ञा के रहस्य का अता-पता नहीं। जरा गौर से बात को समझ। एक तरफ बड़े भाई की हत्या का पाप है, और दूसरी तरफ प्रतिज्ञा को छोड़ने का पाप है। दोनों में से एक भी पाप करने की जरूरत नहीं है। बड़ों का कहना है कि बड़ों-बुजुर्गों का अपमान करना उनकी हत्या करने के बराबर है, अत: इन्हें मारने से तो इनका क्रूर अपमान करना अधिक दंडनीय होगा। तू सबकी उपस्थिति में युधिष्ठिर को अपमानित कर।

तब अर्जुन ने युधिष्ठिर को तू-तू कहते हुए अनेक कटु वचन सुनाए। बड़े भाई की मर्यादा के विचार से आज तक जो-जो बातें उसके मन में अटकी हुई थीं या उसने दबा रखी थीं, वे सब की सब उभर आईं। उन्हें पढ़कर भी हैरानी होती है। वह बोला : 'तुम्हारे पाप के कारण हमें वन में रहना पड़ा....तुम्हारे पाप के कारण हमारी प्रिय द्रौपदी का भरी सभा में चीरहरण हुआ....तुम्हारे पाप से मुझे गुप्तवेश में बृहन्नला बनकर रहना पड़ा।' एक-एक कटु वचन सुनने के साथ ही युधिष्ठिर के शरीर की रंगत बदलती गई।

अर्जुन ये कटु वचन बोल तो गया, लेकिन बाद में उसे ख्याल आया कि वह क्या बोल गया, बड़े भाई के हृदय में कैसा प्राणांतक प्रहार कर गया, तो प्रत्याघात के मारे उसका हृदय अकुला उठा। वह बोला : 'अरे रे! ऐसे अनुकंपा भरे और धर्मभीरु भाई को मैं इस तरह बोल गया? इस पाप के लिए तो मुझको आत्महत्या कर लेनी चाहिए।'

इस बार पुन श्रीकृष्ण ने उसे समझाया, पर अर्जुन ने कहा कि आत्महत्या तो मुझे करनी ही चाहिए। श्रीकृष्ण ने उसे फिर से याद दिलाया कि तुम्हारे इस कृत्य से दुश्मनो को कितनी खुशी होगी? हाँ, एक रास्ता है। 'अर्जुन। खानदानी अभिजात लोगों के लिए अपनी बड़ाई खुद करना आत्महत्या के समान होता है। तू अपने आप अपनी बड़ाई कर। बस, यही तुम्हारे लिए आत्महत्या जैसा पाप हो जाएगा।'

तब अर्जुन अपनी बड़ाई करने लगा और उसका दिल कुछ नीचे बैठा। यहाँ कहना न होगा कि श्रीकृष्ण महान् मनोविज्ञानवेत्ता पुरुष थे, साथ ही दो धर्मों के मध्य विवेकानुसार मार्ग निकाल लेने वाले भी थे।

प्रतिज्ञा की जाए तो उसका पालन भी किया जाना चाहिए, पर प्रतिज्ञा लेने और पालन करने में विवेक होना चाहिए। श्रीकृष्ण यह बात जानते हैं कि कौनसा धर्म विवेक का आधार है—चढ़ता या उतरता। जिस व्यक्ति को यह जानकारी नहीं होती वह धर्म को अधर्म के रूप मे और अधर्म को धर्म के रूप में मानता है। संकट और मुसीबतें सबके जीवन में आती है पर सब के सब श्रीकृष्ण को पुकारते हुए लघु अहं से प्रेरित होकर निर्णय लेते हैं और फिर उससे श्रीकृष्ण-विहीन युद्ध लड़ने के संयोग पैदा होते हैं। श्रीकृष्ण का धर्म-अधर्म अथवा दो धर्मों के मध्य का विवेक कइयों की समझ में नही आता। शिशुपाल या दुर्योधन को ही नहीं, अपितु महासती गांधारी को भी सभी बेटों की संहार-व्यथा के गुबार में क्षण भर के लिए श्रीकृष्ण ही महासंहार का मूल नजर आते हैं। वह कह भी देती है : 'आपने ही मेरे पुत्रों को मराया है। कृष्ण! आपने सोचा होता तो इस महायुद्ध को रोका जा सकता था, पर आपने रोका नहीं। आपने ही सारी व्यवस्था न होने दी। आपको मेरा शाप है कि आज से छत्तीसवें वर्ष आपके भी वंश का संहार हो जाएगा।'

पति के प्रति अपरिमेय प्रेम के कारण जिसने अपने आप आँखों पर पट्टियाँ बाँध ली थी, उन्हें जरा-सा हटा कर एक बार भी जिसने पुत्र-दर्शन नहीं किया था, उसकी इतनी क्षति तो स्वीकारनी ही थी। पुत्रों के प्रति वात्सल्य को जिसने हृदय में सहेज रखा हो, वह यदि टिट्टिभ की भाँति एकाध बार चीखती है तो श्रीकृष्ण को उसमें कतई अनुचित प्रतीत नहीं होता। तभी तो वे हँसते-मुस्कुराते हुए शाप को स्वीकार कर लेते हैं।

इस प्रसंग से इतना तो स्पष्ट ही है कि श्रीकृष्ण का विवेक तत्कालीन समाज के बड़े लोगों तक को समझा पाना मुश्किल था।

धर्माचरण मुश्किल था, पर महाभारत के रचयिता के लिए तो श्रीकृष्ण पूर्ण सत्यवादी एवं निष्कलक पुरुष थे। तभी तो उत्तरा के मृत पुत्र परीक्षित को उनके द्वारा संजीवन कराया गया था। उस समय महाभारतकार ने श्रीकृष्ण के द्वारा प्रतिज्ञापूर्वक कहलवाया था कि 'यदि मैने उपहास में भी कभी झूठ न बोला हो तो यह परीक्षित जीवित हो उठे।'

यह परम उदात्त वाणी हृदय के अतरतम को छूती हुई प्रकाश की किरणें फैलाती है और हमें उज्ज्वल मुस्कान बिखेरते हुए समस्त प्राणियों के कल्याण में निरत श्रीकृष्ण के दर्शन होते हैं। विरोधाभास श्रीकृष्ण मे नहीं है। विरोधाभास तो उस युग के तथा वर्तमान धर्म-अधर्म को समझने मे मोहावरण के कारण अशक्त हुए हम लोगों में है और इसका दोष हम श्रीकृष्ण पर उंडेल देते है।

महाभारतकार इस कठिनाई से सुपरिचित हैं, तभी तो राज्यधर्म, वर्णधर्म, कुलधर्म, जाति धर्म, स्त्रीधर्म आदि की सागोपांग चर्चा करते हुए उन्होंने साथ ही साथ आपद् धर्म की भी चर्चा की है, क्योंकि वे जानते है कि ये तमाम धर्म परिबद्ध एवं मर्यादित हैं। उनमें अपवाद न हों, ऐसी बात नहीं है। लेकिन आपद् धर्म को परखने या मापने के प्रतिमान क्या हैं अथवा इन तमाम धर्मों का आधार रूप धर्म कौनसा है, जब तक यह बात स्पष्ट नहीं होती, तब तक इस बात की आशंका बनी रहती है कि आपद् धर्म के नाम पर समाज मे अव्यवस्था या अराजकता फैले।

अलग-अलग राज्यों में चलने वाले मीटर सही रीति से काम कर रहे है या नहीं, ऐसी शंका पैदा होने पर पेरिस के भूगर्भ में गाड़ कर रखे गए प्लेटिनम के एक आदर्श मीटर से उसकी जाँच कर ली जाती है। भूगर्भ का मीटर प्लेटिनम का है—और फिर भूगर्भ में है, अतः ऋतुओं के परिवर्तन से वह अप्रभावित रहता हे और सदैव यथावत् स्थिति मे रहता है।

सोचने की बात है कि ऐसे ही जब विविध धर्मों को लेकर विवाद या शंका खड़ी हो जाए तब आदर्श धर्म का क्या ऐसा सदैव यथावत् स्थिति में रहने वाला कोई प्रतिमान है ? और उस प्रतिमान की परख के लिए महाभारत का कला-विधान कैसा है ?

महाभारत में प्रसंगोपात्त धर्म की विविध व्याख्याएं की गई हैं, उनमें से दो व्याख्याएं प्रसिद्ध हैं :

धारणात धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
लोक यात्रामिहैके तु धर्म प्राहुर्मनीषिणः।।

धर्म का काम है सब को धारण करना अर्थात् जिसके आधार पर सब स्थिर रहें और सबका विकास हो। दूसरी व्याख्या भी पहली की सहयोगिनी है। धर्म के परिणाम स्वरूप लोकयात्रा चलती रहनी चाहिए।

प्रथम श्लोक में प्रजा शब्द नहीं है, उसका बहुवचन है—'प्रजाओं'। और दूसरे श्लोक में 'लोक' शब्द है।

आशय यह है कि महाभारत के अनुसार धर्म केवल एक व्यक्ति, वर्ग अथवा एक वर्ग की धारणा से सम्बद्ध चीज नहीं है अपितु यह सब के साधिक जीवन का स्पर्श करने वाला विचार है। यह समाज के सभी अंगों-उपागो और व्यक्तियो से सम्बद्ध विषय है।

मूल व्याख्या से जुड़े रहें तो 'धारणात् धर्ममित्याहु' अर्थात् जो धारण करे वह धर्म। लेकिन प्रश्न है कि किसको धारण करे? क्या जो प्रजाओं को धारण करे, वह धर्म है?—कोई एक समूह, कोई एक कुटुम्ब, कोई एक व्यक्ति? बलराम के सामने सवाल यह था कि दुर्योधन को इस निरंकुश रीति से यदि चलने दिया जाएगा तो क्या उससे प्रजा टिकी रहेगी? उनके समक्ष लाक्षागृह, द्रौपदी वस्त्र-हरण तथा द्यूतक्रीड़ा के प्रसंग थे। इनके द्वारा उसे वांछित सूझ-समझ मिल सकती थी। क्या इस तरह प्रजा टिकी रह सकती है?

बलराम के समक्ष एक और प्रश्न था कि क्या पांडवों के आचरण द्वारा प्रजा के टिके रहने की संभावना अधिक है?

इन प्रश्नों के उत्तरों के अनुसार अन्य धर्मों अर्थात् क्षात्रधर्म, वचनपालन का धर्म, सेव्य-सेवक धर्म, रक्षा धर्म, कुल मर्यादा को सहेजने के धर्म आदि सब को व्यवस्थित करने की जरूरत है।

दुर्भाग्यवश कुरुवंश में से दो व्यक्तियों को तो पता था कि दुर्योधन का मार्ग समाज-सुधार का मार्ग नहीं था। स्वयं कुरुवंश की धारणा इस मार्ग पर संभव न थी। फिर भी दोनों वृद्धजन धर्म का पक्ष न ले सके। उन्होंने पांडवों को आशीर्वाद दिये, पर वे सक्रिय रहे दुर्योधन के पक्ष में।

दोनो मे परम्परा-प्राप्त इसी धर्म की समझ थी कि जिसका अन्न खाओ उसका साथ न छोड़ो। वे यह भी जानते थे कि उच्चतर धर्म की दृष्टि से पांडव सही थे। कहने का आशय यह है कि दो धर्मो की टक्कर में उन्होने समझदारी-पूर्वक उतरते हुए निम्नस्तरीय धर्म को अपना स्थूल समर्थन दिया।

तुलाधार-जाजलि संवाद में धर्म की एक तीसरी व्याख्या दी गई है। तुलाधार एक छोटा व्यापारी था। वह अपना व्यापार ईमानदारी से किसी का अहित सोचे बिना करता था। जाजलि एक बडा तपस्वी था। इतना ऊंचा तपस्वी, कि जिसकी जटाओ में पक्षियो ने घोंसले बना लिए थे और जो हिलाडुला तक न था। अपने ऐसे तप को देखकर जाजलि को अभिमान हो गया। वह बोल उठा : 'मैंने धर्म प्राप्त किया है।' तभी अंतरिक्ष-वाणी हुई कि 'तुम तुलाधार जितने धार्मिक नहीं हो। काशी का वह तुलाधार तुम्हारी तरह बोलने का पात्र नहीं।' आश्चर्यचकित जाजलि तुलाधार के पास गया। उससे जब बातचीत हुई तो तुलाधार ने वित्तलुब्ध याज्ञिकों की निंदा करते हुए धर्म की यह व्याख्या की :

वेदाह जाजले धर्म सरहस्य सनातनम्।
सर्वभूतहितं मैत्रं पुराणं यं जना विदु.।।

अर्थात् हे जाजले! जो सभी प्राणियों का हितैषी है और सबके साथ मैत्री की भावना रखने वाला है, जिसे सब लोग पुरातन धर्म के रूप में जानते है। उस गूढ रहस्यों वाले सनातन धर्म का मुझे ज्ञान है।

आगे धार्मिक मनुष्य का लक्षण बताते हुए वह कहता है कि जो समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भाव रखे, वही धार्मिक मनुष्य समझा जाता है :

सर्वेषां च सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रत।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले।।

जिसके मन में सभी प्राणियों के प्रति मित्रता की भावना हो, भले ही वे उसे मित्र समझते हों अथवा शत्रु—ऐसे व्यक्तियों के द्वारा लोकयात्रा और संसार-धारणा को पोषण ही मिलता है, नुकसान होने की तो बात ही कहाँ रह जाती है।

संधि प्रस्ताव लेकर जाने से पूर्व श्रीकृष्ण ने अपने ये विचार अनेक बार स्पष्ट किए थे। जब महात्मा विदुर जी ने उनसे कहा कि 'आपका यह

पुरुषार्थ अकारथ ही जाएगा, क्योंकि ये शठ और लोलुप लोग आपका कहना नहीं मानेंगे।' इसके जवाब में श्रीकृष्ण ने कहा था : 'यदि मैं मृत्यु के मुँह में जाने से सबको, कौरवों तक को भी बचा सकूँगा तो इससे बढ कर दूसरा सत्कर्म और क्या होगा?' उन्होंने सभा में इसी आशय का दावा भी किया कि 'कौरवों को काल के गाल में जाने से बचाने के लिए मैं अल्पातिअल्प माँग लेकर आया हूँ।'

पर सबका मित्र होने वाले के लिए पहली शर्त यह है कि वह किसी का भी मित्र न हो। स्नेही भले ही हो, पर स्नेहबद्ध न हो। दूसरे शब्दों में कहें तो वह रागी न हो :

जब मै था तब हरि नही।
अब मैं हूँ हरि नाहि।।

जब तक अंतकरण में 'मैं' का अस्तित्व रहता है तब तक ईश्वर नहीं रह सकते, लेकिन ज्योंही ईश्वर का आगमन हो जाता है त्योंही 'मैं' का भाव तिरोहित हो जाता है।

धर्म धारण करने के लिए है पर कौन किस चरण पर यह बात सुनिश्चित करेगा कि किन विधियों से समाज में स्थायित्व आएगा अथवा इसके अभाव में समाज शिथिल होकर टूट जाएगा? यह बात कौन तय करेगा कि अमुक विचार, आचार, विधान या परंपरा कालग्रस्त हो चुकी है? इन क्रूर प्रश्नों का उत्तर प्राप्त किए बिना कालातीत धर्म की चर्चा करनी भयावह है।

कार्ल मार्क्स ने अपने सामाजिक वर्गीकरण में इस बात का विशदता से परीक्षण किया है कि 'समस्त नियम, नीति-विधान, रस्मो-रिवाज, परंपरा, साहित्य और दर्शन तक तत्कालीन सम्पत्तिशाली लोगों की रक्षा के लिए बनाई गई तरकीबें है। प्रजातांत्रिक राज्य अभिजात वर्ग को बनाए रखने की एक कार्यकारी व्यवस्था है और इतिहास वर्ग-संघर्ष के अलावा और कुछ नहीं है।'

उनके अनुसार सच्ची नीति, सत्साहित्य, सच्ची कला, सही दर्शन, वर्ग-विहीन समाज की स्थापना के बिना रचे नहीं जा सकते। अपने विवेचन में उन्होंने आगे लिखा है कि आर्थिक-विकास की प्रक्रिया में एक ऐसी स्थिति आती है कि जब पिछली सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था कालग्रस्त बन

जाती है। वह तभी तक टिकी रहती है जब तक कि क्रांति नहीं हो जाती। क्रांति होते ही वह व्यवस्था पत्तों के महल की तरह बिखर जाती है, क्योंकि उसका कार्य कभी का पूरा हो चुकता है। मात्र प्रचलित विचार-दर्शन में से छूटे हुए क्रांतिकारियो के अभाव में ही वह व्यवस्था टिकी रहती है।

प्रश्न उठता है एक आर्थिक-विकास की व्यवस्था सहज ही आत्मविनाश की स्थिति तक आ पहुँची है, इस बात का निर्धारण कौन करता है? कैसी होती है इस निर्णय-कर्त्ता की मनोवृत्ति? क्या लक्षण हैं उसके? वह न हो तो क्या होगा?

प्रयोगशाला के सूक्ष्मदर्शक यंत्र मे पानी की बूँद मे रहने वाले जीवों को देखने की क्षमता होती है। लेकिन कब? किन स्थितियों में इसका लाभ प्राप्त किया जा सकता है?—तभी तक, जब तक कि इसको बराबर फोकस में रखा जा सके, उसका काच स्वच्छ हो और उसे देखने वाला पूर्वाग्रह से ग्रसित न हो। हिन्दू धर्म की भाषा में कहें तो कहना चाहिए कि जब तक द्रष्टा सत-रज-तम के प्रभावों से सर्वथा मुक्त हो। फ्रेंच, रूसी या मार्क्सवादी नियमों से की गई अन्य क्रांति में इस प्रश्न की कोई आधारभूत चर्चा नहीं है। परिस्थिति को देखकर उसे बदलने वाले यदि स्वयं द्वेषी, हठी, सत्ता-लोलुप, अंध राष्ट्रवादी अथवा हर तरह के साधन अपनाने वाले मलिन राजनीतिज्ञ होंगे तो राज्यसत्ता विलीन हो जाएगी, मनुष्य मनुष्य पर राज्य करने की बजाय फकत वस्तु की व्यवस्था करने वाला तंत्र बना रह जाएगा। क्या ऐसे में समता, स्वतंत्रता तथा बंधुता की अद्भुत कल्पना पृथ्वी पर साकार हो पाएगी?

हमारा पिछला इतिहास इससे साफ इन्कार करता है। जिसकी दृष्टि में ही दोष हो या जिसके सूक्ष्मदर्शक यंत्र के काच ही मैले हों वह सत्य का विकृत दर्शन ही करेगा।

कहने का आशय यह है कि स्वर्ग की यात्रा नारकीय मनोदशा अथवा साधनों द्वारा संभव नहीं है। चित्त की शुद्धि के बिना मनुष्य शुद्ध-सही निर्णय नहीं ले सकता और इसके बगैर पृथ्वी पर स्वर्ग की रचना कर पाना असंभव है।

महाभारत के अनुसार क्रांति की सफलता और आध्यात्मिक योग्यता का नाड़ीप्राण संबंध है। तभी तो महाभारत में युधिष्ठिर और उसके

चारों भाइयों जैसे सबके प्रति मृदु स्वभाव रखने वाले और रागों से मुक्त पुरुष चित्रित किए गए हैं। वे बार-बार कहते हैं 'धर्म से जो प्राप्त न हो, ऐसा त्रिलोक का राज्य भी हमें नहीं चाहिए।' युधिष्ठिर की मृदुता जानी-पहचानी है, पर हीरे की कणी की तरह प्रकाशमान एक छोटा-सा प्रसंग एक कोने में छिटक जाने से प्रकाश में नहीं आ पाया है। जिन दिनों पांडव द्वैतवन में रहते थे, उन दिनों एक रात युधिष्ठिर को स्वप्न आया कि मानो द्वैतवन के अनेक हरिण उसके समक्ष आर्तवाणी में पुकारते हुए खड़े हैं। युधिष्ठिर के पूछने पर वे बोले 'आप सब महान् धनुर्धारी हैं। आपके पास अनेक अतिथि मिलने आते हैं तो स्वागत-सत्कार के लिए आप सब भाई रोजाना हमारा संहार करते हैं। अब तो दया कीजिए और आप लोग किसी अन्य वन में चले जाइए, अन्यथा हमारे समग्र वंश का समूल नाश हो जाएगा।'

युधिष्ठिर की नींद उचट गई। उन निरीह प्राणियों के दुःख से उनकी आँखें छलक आईं। सवेरे अपने भाइयों से उन्होंने रुंधे हुए कंठ से कहा कि 'आज ही हम किसी दूसरे वन में चले जाएँगे, नहीं तो इन बेचारे हरिणों का पत्ता ही साफ हो जाएगा।'

महाभारत के कथा-प्रवाह के साथ इस प्रसंग का कोई खास संबंध नहीं है, न ही किसी अन्य वन में कोई नया अंक खुलने का यह प्रवेश द्वार है, पर यदि हम स्वप्न को मानव के अंतर्मन की दशा का निर्देशक मानते हैं तो यह स्वप्न महाराज युधिष्ठिर के आर्द्र चित्त का प्रमाण है।

विजय-प्राप्ति के पश्चात् उनका खेद और विषाद, सिंहासन छोड़ने और वन में जाकर रहने का उनका आग्रह इसी मनोदशा का आविष्कार है।

अश्वमेध यज्ञ करके प्रायश्चित करने की कृष्ण की सलाह के समय वे कहते हैं कि, '*लेकिन उसके लिए धन कहाँ से लाऊँ? युद्ध में सभी राज्य* बरबाद हो चुके हैं। कहीं-कहीं तो राजकुमार ही नहीं है। वहाँ पर राजकुमारियों को सिंहासन पर बिठाया गया है। उनके खजाने खाली हैं। उनसे धन माँगने की हिम्मत नहीं है मेरी।'

'अर्जुन' का अर्थ होता है 'सरल'। यद्यपि वह युद्ध के लिए लालायित रहता था। स्वर्ग से दिव्यास्त्र लाने के लिए वह पाँच वर्ष तक वहाँ रहा था, लेकिन वही अर्जुन युद्ध लड़ने के लिए उद्यत सगे-संबंधियों को सामने खड़े देखकर पानी-पानी हो गया और बोल उठा कि 'मैं नहीं लड़ूँगा।

ये लोग तो अनुमान तक नहीं लगा पा रहे, कि कितना भयंकर युद्ध होगा यह। इन लोगों का क्या दोष? पर हमें तो विनाश की भयंकरता का अता-पता है। तब भला हम युद्ध क्यों लड़ें?'

भीम के हृदय की आर्द्रता को अनेक लोगों ने नहीं देखा, पर महाकवि के लिए तो यह सब हस्तामलकवत् था। दूत बनकर जब श्रीकृष्ण संधि के लिए जा रहे थे, तब भीम ने जो कहा था उसे सुनकर स्वयं युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण तक आश्चर्यचकित रह गए थे।

उन्होंने कहा था 'आप हमारे और कौरवों के मध्य शांति स्थापित करने की बातचीत कीजिएगा। दुर्योधन क्रोधी और ईर्ष्यालु है, अतः उसे आप कठोर बातें न कहें। उसे शांतिपूर्वक समझाएँ, हम उसके पीछे-पीछे चलने को तैयार हैं, लेकिन कृपया देखना कि हमारे कारण भरतवंश का नाश न हो।'

बल का अवतार भीम हमें धर्म और मृदुता का अनुचर दिखाई देता है।

कहना न होगा कि जो धर्म को जानना चाहता है उसके लिए सबके प्रति मृदुता का भाव एक आधारभूत गुण है।

इसके विपरीत जिसमें अहंकार होता है उसमें मृदुता संभव ही नहीं है। अहंता का केन्द्रीय वृत्त है 'सब कुछ मैं ही हूँ।' मृदुता दूसरों को होने वाली वेदना से आर्द्र होती है अतः जब कभी मृदु स्वभाव के मनुष्य किसी विग्रह में उतरते हैं तब उनके व्यवहार में राक्षसी भाव की झलक रंच मात्र भी देखने में नहीं आती। जब तक क्रांतिकारियों के हृदय मृदु, कोमल और अंध ममता से मुक्त नहीं होते, तब तक क्रांति के प्रयोजन एक तरफ रह जाते है और अहंकार के द्वारा सृजित आपत्ति वर्तुलों की पुनरावृत्तियाँ शुरू हो जाती है।

यह सच है कि क्वचित् ही कोई कर्म सम्पूर्ण इष्ट अथवा सम्पूर्ण अनिष्ट परिणाम लाता है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध लड़ने के लिए प्रेरित करते समय सावधान किया था कि 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।'

अतः क्रांतियों के भी अमुक इष्ट परिणाम आए हैं, पर स्वर्ग की रचना करने वालों के यहाँ 'गुलाग आर्किपेलागो' कैसे रचा जाता है? कैसे?

लेनिन ने क्रांति के आरंभ में जार के कब्जे वाले प्रदेशों को घोषणा-पत्र में मुक्त करने की बात कही थी, उन्हें फिर से कब्जे करने की बात तो छोड़िए, पर अन्य स्वतंत्र देशों को—ठेठ हंगरी तक को टैंकों के बल पर कब्जे में करने का कर्म-समूह कैसे उपजा?

—मैले मन से निर्मल मार्ग ढूंढ़ने की अंध-यात्रा के कारण।

अतः महाभारतकार ने इस बात पर अधिक बल दिया है कि धर्म-जिज्ञासु तथा धर्म-पालक व्यक्ति में शास्त्र-ज्ञान से भी अधिक समदर्शिता और इसके पोषक गुण पहले होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को गीता में स्थितप्रज्ञ, गुणातीत अथवा भक्त आदि विविध नामों से पुकारते हुए वे उनकी प्रशंसा करते नहीं थकते।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।।
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करूण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःख सुख क्षमी।।

यह तो हुआ आदर्श। इसके लिए गुणों का वर्णन करते हुए कहा है:

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञान योगव्यवस्थिति :।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्याय स्तप आर्जवम्।।
दया भूतेष्व लोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीर चापलम्।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।।

प्राणी मात्र के प्रति दया का भाव अलोलुपता (लोभ-लुब्धता का त्याग) के बगैर संभव नहीं है, तो तेज तथा धृति से रहित क्षमा का भी कोई मूल्य नहीं है। चित्त की अमलिनता किसी से द्रोह (दगा) करने की तो बात ही नहीं, पर अतिमानता अर्थात् स्वयं को अत्यधिक मान मिलना चाहिए, ऐसा भी नहीं कि अमुक मान मिले, तभी कोई वार्तालाप करना चाहेंगे तो वहाँ मेल-मिलाप की संभावनाएँ हाथों-हाथ टल जाती हैं। स्वयं को अत्यधिक मान-महत्त्व न देना धर्म-शोधन करने वाले के लिए परमावश्यक गुण है।

इस प्रकार व्यास जी ने धर्म की व्याख्या ही नहीं की, अपितु धर्म की बात करने वाले या उसकी शोध करने वाले की योग्यता की भी कसकर व्याख्या की है। दुर्योधन संधि-प्रस्ताव लेकर आये हुए श्रीकृष्ण से कहता है

कि 'मेरे अंतःकरण में बैठा मन मुझे जिस तरह चलाता है, मैं उसी तरह चलता हूं' तो क्या इस तरह के स्वरों को आप अंतरात्मा की आवाज कहेंगे?

अधर्म भी धर्म लगने लगे, ऐसे वचन बोले जा सकते हैं। संजय के उपप्लव्य में धृतराष्ट्र का संदेश लेकर जाते समय के वचन देखिए 'तुम्हारे जैसे धर्म-पुरुषों को तो कुल-संहार करने का विचार ही शोभा नहीं देता। विजय कदाचित् रक्त में सनी हुई मिले। भला तुम्हारे जैसे धार्मिक लोग ऐसी विजय क्यों चाहते हैं? इसके बजाय तो तुम्हारे स्वजनों के समान यादवों के राज्य में रहते हुए जीवन-यापन करना अधिक पुण्य का काम होगा।'

क्षमा, धर्म, दया, उदारता, विषयों के प्रति उदासीनता आदि गुणों को रटने वाले को तो ये बातें धार्मिक ही लगेंगी। कच्चा-पच्चा तो इनमें फँस ही जाता है। ये सदुपदेश की बातें एक पुत्रलोभी राज्यलक्ष्मी से अंध व्यक्ति की तरफ से स्वयं को और स्वयं के मदमत्त पुत्रों को बचाने के लिए कही गई हैं, यदि यह बात ध्यान में हो तो पता लग जाएगा कि ऊपर कही गई शहद जैसी मीठी बातों में कितना भयंकर जहर मिला हुआ है।

अतः जो शब्द बोले या लिखे जाते हैं उन्हीं से धर्म अथवा अधर्म का निर्धारण नहीं किया जाता। धर्म का आश्रय कपटी लोग सदैव लेते आए हैं, अतः यह देखना जरूरी हो जाता है कि किन गुणों वाला व्यक्ति अथवा किन गुणों का अनुगामी व्यक्ति अमुक बातें बोल रहा है।

भगवान अर्जुन को ही गीता कह सकते हैं, दुर्योधन को नहीं, क्योंकि दुर्योधन आसुरी प्रकृति का अनुरागी था।

आशा पाशशतैर्बद्धाः कामक्रोध परायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थ संचयान्।।

अर्थात् काम-क्रोध में डूबे सैंकड़ों लोग आशा की डोरी से बँधे हुए हैं इसी कारण से तो अन्याय द्वारा अर्थोपार्जन की खटपट करते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।

अर्थात आज मैंने ये सब वस्तुएं प्राप्त की है, यह मेरा मनोरथ पूरा हुआ है। आज अमुक-अमुक वस्तुएं मेरी हो चुकी हैं, इतनी-इतनी और मिलने वाली है। इन शत्रुओं को मैंने मारा है, दूसरों को भी मैं मारूंगा। मैं ईश्वर के समतुल्य हूं, भोगी हूं, सिद्ध हूं, बलवान हूं, सुखी हूं।

कोऽन्योस्ति सदृशो मया।

अर्थात मेरे जैसा और कौन है? इस तरह की बातें कहने वाले यज्ञ न करते हो या दान नहीं देते हों, ऐसी बात नहीं है। वे दंभ और मान के लिए ये सब करते है। मंदिर जाते हैं, साधुओं का अभिवादन करते हैं, माला फेरते हैं—लेकिन सभी कुछ दम और मान से प्रेरित होकर करते हैं। ऐसे मूर्ख लोग बार-बार जनम-जनम में आसुरी योनि में अवतरित होते हैं और अधम से अधम गति प्राप्त करते हैं।

कारण यह है कि ये नरक के ही तीन द्वार हैं—काम, क्रोध और लोभ। इसमें तो ये पूर्ण पराक्रमी होते हैं। मुझे एक बार फिर से हिटलर का स्मरण हो आता है जिसमें इस सदी की आसुरी वृत्ति का चरमोत्कर्ष देखने में आता है। उसने गीता कहाँ सुनी होगी? लेकिन क्या उसकी उद्धत अथवा अभिमानी वाणी में यह प्रतिघोष या प्रतिध्वनि नहीं उठती? पाँच हजार वर्ष बाद फिर से बीसवीं सदी में मानो कलिपुरुष का अहंकार गर्जना करता सुनाई देता है।

बेल्जियम या हालैंड की तटस्थता की अवमानना करके फ्रांस पर आक्रमण करने की बात हिटलर के सेनापति-मंडल ने स्वीकार नहीं की थी। हिटलर ने उन्हें बुलाकर कहा—'मेरा निर्णय अटल है। जिस क्षण मुझे अनुकूल लगेगा मैं फौरन उसी समय फ्रांस और इंग्लैण्ड पर हमला बोल दूंगा। मुझे पहले कही गई इस बात को लेकर रत्ती भर फिकर नहीं है कि बेल्जियम और नीदरलैंड की तटस्थता को भंग नहीं किया जाएगा। जब हम जीत जाएँगे, तब हमें कोई भी नहीं पूछेगा। 'किसी ने भी मेरे जैसी सिद्धि हासिल नहीं की है, मैं जबरदस्त जुआ खेल रहा हूँ। मुझे चाहे जो करना पड़े लेकिन मैं पीछे नहीं हटूँगा। मेरे सामने जो भी आयेगा, मैं उसे नष्ट कर डालूँगा और दुश्मन को मिट्टी में मिला दूँगा।'

महाभारत कहता है कि 'ईश्वर किसी को लाठी से नहीं मारता। वह जिसका विनाश करना चाहता है, उसकी समझदारी नष्ट कर देता है।'

हिटलर के नष्ट होने से पहले उसकी समझदारी का पूरी तरह से नाश हो चुका था। पोलैंड शरणागति स्वीकार कर लेने के बाद फिर से खड़ा न हो सके, कहीं वहाँ विद्रोह न फूट पड़े, इसके लिए उसने वहाँ के सभी यहूदियों, पादरियों और बुद्धिमानों की व्यवस्थित रीति से हत्या करवाने का निश्चय किया, पर सेनापतियों ने उसकी आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। लोग जर्मन सैनिक परंपरा पर शरणागतों की हत्या का कलंक लगाने को तैयार नहीं थे। तब हिटलर ने अपने निजी 'स्टोर्म ट्रुपर' को यह काम सौंपा। उसने एक सेनापति हँस फ्रेंक को बुलाकर पोलैंड का गवर्नर जनरल बना दिया और निर्देश दिया कि 'जो काम तुम्हें सौंपा जा रहा है वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। दूसरे जिन लोगों को यह देश सौंपा जाएगा, उन्हें पूछा जाएगा कि 'तुमने क्या निर्माण किया', मैं तुमसे इससे ठीक विपरीत पूछूँगा, समझे?'

महाभारत का दर्शन सनातन और त्रिकाल है। निःसंदेह यह सर्वत्र उपयोगी है।

हर युग में दुर्योधन पैदा होते हैं अतः हर युग में भगवान को अवतार लेना पड़ता है। कभी-कभी हम उसे पहचान भी नहीं पाते। उसे गोली मार देते हैं। पर वह अवतरित होता है—अपनी आहुति देकर अनिष्ट को रोक देता है।

यह बात ध्यान देने की है कि जब महाभारतकार इस सद्‌गुणाश्रित बुद्धिमान धर्म की व्याख्या करते हैं तब मात्र समाज-हित ही उनके समक्ष नहीं रहता, अपितु व्यक्ति भी रहता है, क्योंकि व्यक्ति समाज के साथ-साथ चलता है। जिन सद्‌गुणों के पालन से समाज में स्थिरता आती है वही सद्‌गुण व्यक्ति के श्रेय के लिए भी माध्यम बन जाते हैं।

भारतीय समाजशास्त्र, मनोविज्ञान तथा धर्म का यह आधार व्यक्ति के चरम उत्कर्ष या चरम सुख की कल्पना तथा समाज का कल्याण—सब समांतरण एक मार्ग पर स्थिर हैं।

इन्द्रिय-सुख ही यदि व्यक्ति का उत्कर्ष लक्ष्य हो तो व्यक्ति समाज के लिए जब दुःख झेलता है तो उल्टे उसका कल्याण होता है—यह बात प्रतिपादित कर पाना मुश्किल हो जाए।

मनुष्य के जीवन का ध्येय क्या है? समाज में उसके आने के बाद भी वह एक स्वाधीन तथा अनेक भली-बुरी संभावनाओं से युक्त

स्व-सचालित इकाई है। इस इकाई की उत्तमोत्तम अवस्था किसे माना जाना चाहिए।

उत्तम गुलाब, उत्तम आम, उत्तम घोड़े, उत्तम राजा आदि के लक्षणों को समझ कर यदि इनके उन्नति-क्रम पर विचार करे तो देखने की बात है कि महाभारत के ऋषि ने उत्तम मनुष्य के संबंध मे क्या व्यवस्था दी है?

एक महाप्राज्ञ ऋषि ने धृतराष्ट्र की विचलित मनोदशा के समय एक रात जो उपदेश दिया था, उसमें उन्होंने मनुष्य के इसी उन्नतिक्रम का सांगोपाग वर्णन किया है :

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठा प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः।।
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः।।

भारतीय तत्त्वमीमांसा के अनुसार सृष्टि का विकास ही नहीं, उस विकास की सर्वोच्च चोटी को यहाँ त्रिकाल ज्ञानी की भूमिति द्वारा स्पष्ट दर्शाया गया है।

सृष्टि में सर्वप्रथम पंचमहाभूत थे, लेकिन जब उनमें प्राण-प्रविष्ट हुए तब प्रगति का एक सोपान निर्मित हुआ। श्वासोच्छ्वास न लेने वाले प्राणियों की बजाय साँस लेने वाले बढ़कर थे, लेकिन इनमें से भी कइयों में बुद्धि नहीं थी। वे अपने अनुभवों को संग्रहीत करके, समझकर, व्यवस्थित करके दिशा तय कर पाने मे असमर्थ थे, यथा आग की लपटों में कूद पड़ने वाले पतंगे। लाखों वर्षों से पतंगों ने यह बोध-पाठ भी ग्रहण नहीं किया और अज्ञानतावश आग में कूद रहे हैं। इसका एकमात्र कारण है बुद्धि का अभाव।

उनकी तुलना में प्राणी जगत में मनुष्य में बुद्धि का प्रारंभ हुआ। हाथी-बंदर आदि में भी अल्प मात्रा में बुद्धि है।

बुद्धि वाले प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है क्योंकि बुद्धि से भी श्रेष्ठ वस्तु साक्षात् आत्मा उसके पास है। यह होते हुए भी सभी लोग जागृत होकर बुद्धि का उपयोग नहीं करते। इसीलिए नर-सृष्टि में ब्राह्मण श्रेष्ठ माने जाते हैं। ब्राह्मणों में भी श्रेष्ठ विद्वान समझे जाते हैं जो आत्मसत्ता को स्वीकारते हैं क्योंकि आत्मसत्ता को स्वीकार करने से आगे चलकर वे शोध अनुसंधान करते हैं। इन विद्वानों में भी श्रेष्ठ हैं कृतबुद्धि, जो शोधित सत्य के अनुसार

क्रिया करते हैं। लेकिन सभी विद्वान क्रियावान नहीं होते। जिस तरह सभी विधिवेत्ता राज्य के विधि विरुद्ध व्यवहार के बावजूद असहयोग करने को तैयार नहीं होते, क्योंकि वे विद्वान है, 'कृतबुद्धि कर्तारः' नहीं।

ऐसे कृतबुद्धि क्रियावानों में वे श्रेष्ठ हैं, जो ब्रह्म को जानते हैं। उनकी बुद्धि अथवा क्रिया कभी झूठी अथवा लोक-अहितकारी नहीं हो सकती। जो ब्रह्म को मानता है, वह अपना-पराया किसे मानता है? न उसे ममता होती है न स्वार्थ। वह तो समस्त प्राणियों के कल्याण में निरत रहता है। एक तरफ वह ब्रह्मानंद में लीन रहता है तो दूसरी तरफ वह कृतबुद्धि कर्त्ता होता है। इस प्रकार व्यक्ति-विकास की गगा और लोक-संग्रह की जमना साथ-साथ चलती है और प्रयाग-तीर्थ पर अक्षयवट की महिमा का गीत गाया जाता है।

इस प्रकार महाभारतकार ने एक ही दृष्टि में समग्र संसार और उसमें रहने वालों की भूत, वर्तमान, भावी यात्रा की मन को पवित्र बना देने वाली भीषण-मनोरम, व्यथाकारक-व्यथाहारक कथा गाई है।



तीसरा व्याख्यान

गीता महाभारत के मध्यान्तर में है। एक-दूसरे को नष्ट करने के लिए तत्पर अठारह अक्षौहिणी सेनाओं के मध्य में गाई गई है।

क्या अब आगे बढ़ना है या नहीं? किस मार्ग पर बढ़ना है? मार्ग के इस नए मोड़ पर क्या-क्या परिणाम सामने आएंगे? मानो इस प्रश्नों पर शांतिपूर्वक सोचने-विचारने के लिए सभी रुक गए थे।

एक अति गंभीर पल मानो आया था, जिसके निर्णय पर व्यष्टि और समष्टि सभी के जीवन-मरण का आधार था, भीतर से खलबलाया हुआ पर ऊपर से स्तमित पल!

ऐसे क्षण में चित्त की स्वस्थता और बुद्धि की निःसंगता पहले प्राप्त हो, यह जरूरी है। जब मन व्यग्र, बुद्धि भ्रमित या बावली बन गई हो, तब सही-सही और हितकारी निर्णय हाथ नहीं आता, यह हर कोई जानता है। सामान्य अवसर हो तो ऐसी व्यग्रता से कोई बड़ी अपरिमेय क्षति नहीं होती, लेकिन जिस निर्णय का असर समग्र उत्तरी और मध्यवर्ती आर्यावर्त पर पड़ने वाला हो, क्षत्रियों का समग्र समाज नष्ट हो जाए और ऐसी संभावना लगने लगे कि उनके पीछे समाज की व्यवस्था चलाने वाला कोई नहीं बचेगा, यदि ऐसा निर्णय अक्षुब्ध व कोमल चित्त से तथा निःसंग बुद्धि से ही लिया जाए तो सभी के लिए श्रेयस्कर सिद्ध होता है।

तभी श्री कृष्ण आरंभ में ही कह देते हैं कि तू क्षुद्र हृदय-दौर्बल्य त्याग कर मोह रूपी दलदल में फँसी अपनी बुद्धि को जब बाहर निकालेगा, तभी मेरी बात समझेगा।

> यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
> तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।

इसी प्रकार हृदय-दौर्बल्य छोड़ने और मोह-दलदल से बाहर निकालने के लिए गीता का उपदेश हुआ था, यह बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए।

यह उपदेश भी बोझिल न लगे, अपितु मनोहारी और खुले मन वाला बने, इसके लिए इसे संवाद का स्वरूप दिया गया है। संवाद में दोनों

व्यक्तियो को ज्ञान की खोज मे बराबर का हिस्सा लेना पड़ता है। वह दोनों का सयुक्त साहस बन जाता है। शिक्षण को हम दो व्यक्तियो के सहयोग मे चलने वाली क्रिया कहने है।

भगवान तो बहुत ज्ञानी हैं, ज्ञान-स्वरूप है। उनको दवा की, मरीज की और रोग की पूरी खबर रहती है। दो-पाँचों श्लोकों में ही वे बता देने में समर्थ है, पर वे वैसा नहीं करते। वे चाहते है कि अर्जुन अपना सकोच, दुर्बल मन, भ्रमित बुद्धि आदि सब नि सकोच प्रकट कर दे। जब अर्जुन ने कहा कि 'मैं युद्ध नही करूँगा' तो वे उसकी नासमझी भरी हठ को पहचान गए। पर उन्होने अर्जुन से यो नहीं कहा कि 'तू ज्यादा समझदारी मत दिखा। उठ, चुपचाप युद्ध के लिए तैयार हो जा। मैं तेरा सलाहकार हूँ। संकट के समय तू नया संकट खड़ा कर रहा है। क्या तू पहले नहीं जानता था कि तुझे इन मामा, मौसा, भानजों, भतीजों, गुरु, दादा आदि सबंधियों से युद्ध करना होगा? तूने क्या देखकर इतनी मेहनत से इन सब को यहाँ इकट्ठा किया?' ऐसा कहने के बजाय भगवान ने मंद-मद मुस्कुराते हुए कहा :

तं तथा कृपया विष्टमश्रुपूर्णा कुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।

भगवान को पता था और हमें स्मरण रखना चाहिए कि अर्जुन की उलझन दया, स्नेह, करुणा की वजह से पैदा हुई थी। 'कृपयाविष्टम्'—दया अथवा स्नेह से घिरे हुए शब्द हैं ये।

अर्जुन की यह भावना अथवा चित्तवृत्ति समझने के लिए उसी अवसर की दुर्योधन की मनोदशा भी मिलान करके जाँचने जैसी है। वह भी युद्ध के आरभ में भीष्म के पास जाता है और अपने सैन्य दल, अपने सेनापतियों, बड़े-बड़े योद्धाओं सबका परिचय कराता है और डींग मारता हुआ कहता है :

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे व्यक्तजीविता.।

'और ये रहे दूसरे अनेक शूरवीर, जो मेरे लिए प्राण अर्पित करने आए हैं।' दुर्योधन के दिल में उसके निमित्त प्राण अर्पित करने आए वीरों के लिए किसी तरह की आर्द्र भावना नहीं थी। उनमें से अनेक वीर युद्ध के अंत में वापस अपने सगे-संबंधियों से नहीं मिल सकते थे। उनके परिवार शिर-छत्र विहीन हो जाएँगे, ऐसी कोई स्नेह भीगी चिंता दुर्योधन को नहीं थी, उल्टे

वह अपनी महिमा बताते हुए डींगें मार रहा था। जबकि मृत्यु का ग्रास बनने के लिए आने वाले इन तमाम सैनिकों को देखकर जिनमें उसके पक्ष वाले भी थे और दुर्योधन वाले भी, अर्जुन द्रवित होकर कांप उठा था :

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।।

इन सभी स्वजनों को यहाँ लड़ने आया देखकर मेरा शरीर शिथिल हो गया है। मुंह सूख रहा है, पसीना छूट रहा है और मेरे हाथ से गांडीव गिरा जा रहा है।

किसलिए?

इन सबके प्राण सिर्फ एक राज्य के लिए छीन लेना क्या वाजबी है? वे तो मरने आए हैं। लेकिन सिर्फ मेरे सुख के लिए इन सबको मरवाना क्या मनुष्य को शोभा देगा? और अंत में इसका क्या परिणाम आएगा? और उसका मन बोल उठा : 'नहीं, नहीं। इसके बजाय तो भीख माँग कर जीना ज्यादा अच्छा है, लेकिन स्वजनों के खून में सना राज-वैभव लेना पाप है।'

योद्धाओं के इस विराट सैन्य दल को देखकर दुर्योधन और अर्जुन दोनों महारथियों के मन में कैसी भिन्न, परस्पर विपरीत भावनाएँ मौजूद हैं।

अर्जुन के दिल में दया, स्नेह जाग उठता है। उससे प्रेरित होकर वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य के मंथन में पड़ जाता है और मार्ग न मिलने पर उस सर्वज्ञ, सर्वगोचर के चरणों में बैठ कर कहता है :

'शिष्यस्तेऽहं साधि मां त्वां प्रपन्नम्।'

'मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारे चरणों में हूँ। मुझे यह समझाओ कि क्या करना चाहिए।'

कर्मवृत्ति जब इस तरह शुद्ध ज्ञान के चरणों में बैठती है तभी सार्थक होती है। जो कर्म ज्ञान के चरणों में नहीं बैठता, जो उद्यम अविनाशी के पास नहीं जाता, वह कर्म और वह उद्योग सारथी, मशाल या निशान के बगैर मत्त जीवन की अंध-यात्रा है।

यह है प्रथम अध्याय का संकेत, पर भगवान तो जब कोई शरण में आता है तो वापस लौटा कर आत्म-शरण, आत्म-दीप बने, यही चाहते है।

वे यह कदापि नहीं मानते कि किसी की स्वाधीन-बुद्धि का लोप होने से मोक्ष हो सकता है।

इसीलिए जिस परेशानी या प्रश्न का उत्तर पाँच-दस श्लोकों में दिया जा सकता था, उस विषय पर सवाल खड़े करके उसे अठारह अध्याय तक खींचा है। बार-बार चला कर पूछा भी है : 'तुम समझे? न समझे हो तो फिर से पूछ लो। तुम्हारी बुद्धि एकाग्र, स्थिर, प्रसन्न तो है न? मेरी बातें तुम्हारी बुद्धि में बैठती तो है न?'

'प्राणिनाः बुद्धिजीविन' श्वासोच्छ्वास लेने वाले असख्य जीवों में बुद्धि का औजार महत्त्वपूर्ण है। भगवान इस विशेषता की उपेक्षा करना नहीं चाहते। अर्जुन की बुद्धि जितने प्रश्न खड़े करती है, वे उसे करने देते हैं। कई सरल, कई कठिन, कई महत्त्वपूर्ण तो कई मामूली—सब को सहज रूप से प्रकट होने देते है।

एक जगह भगवान ने कहा : 'यह योग मैंने पहले विवस्वान सूर्य को बताया था। उसके बाद मैंने मनु को बताया। मनु ने इक्ष्वाकु....' तुरंत अर्जुन बीच में बोल उठा : 'आपका जन्म तो अभी हुआ था, जबकि सूर्य तो बहुत पहले जन्मा था, ऐसा कैसे हो सकता है?'

एक बार भगवान ने मन को वश में रखने की बात पर बल देने को कहा। अर्जुन तुरंत बोला : 'यह कैसे संभव है? यह तो हवा को मुट्ठी में बंद करके रखने जैसी बात है।'

एक बार भगवान ने स्थिर बुद्धि वाले स्थितप्रज्ञ की महिमा का बखान किया। अर्जुन ने फौरन शंका प्रकट की : 'अभी थोड़ी देर पहले आप कर्म करने की सलाह दे रहे थे, और अब यह कह रहे हैं कि एक बार प्रज्ञा स्थिर होते ही सब काम पूरा हुआ?'

एक बार भगवान ने सांख्य तत्त्वज्ञान का गुणगान किया। अर्जुन ने फौरन कहा : 'आप मुझे असमंजस में न डालें। कभी योग तो कभी सांख्य के गुण गाते हो। आप मुझे पक्की गाँठ बँधाइए कि सांख्य योग ऊँचा है या कर्मयोग?'

अब भगवान तुरत-फुरत बोलते नहीं। वे तो जिसमें जितना गुण है, वह समदृष्टि से बताते हैं। पर अर्जुन को—यों देखें तो यह भी ठीक है, वह भी ठीक है; यों देखें तो यह भी किया जा सकता है, दूसरी तरफ से देखें तो वैसे

नहीं करना चाहिए—इस तरह की बातें उलझन में डाल देती हैं। अर्जुन को सामान्य आदमी की तरह 'क्लीयरकट' नाक की सीध वाला रास्ता चाहिए। जो जीवन में है भी नहीं। भला जीवन कोई एक ही भूमिति का बना हुआ तो है नहीं, कि सीधा-सा कोई उत्तर मिल जाए।

लेकिन भगवान इस तरह की बातें सुनकर भी अर्जुन को डाँटते नहीं। तर्क-प्रतितर्क, पूर्वानुभव, इतिहास और जब जरूरी लगा भरोसा दिलाने के लिए विराट-दर्शन करा कर वे उसकी दोलायमान बुद्धि और व्यग्र मन को सही ठिकाने पर लाए। अंत में उन्होंने पूछा भी : 'यह सब तुमने एकाग्रचित्त होकर सुना? क्या यह सब तुम्हारी समझ में आया?'

समझ में आने का विश्वास लेने के बाद भगवान ने कहा : 'तो अब तुमको जैसा उचित लगे, वैसा करो।'

गीता ने वर्तमान समय में यूरोप में बहुत प्रतिष्ठा पाई। विविध विद्याओं के महान् पंडितों और विचारकों ने भाष्य लिखे, इसका एक कारण यह है कि हमारा युग बुद्धि-प्रधान है और गीता एक ऐसा ग्रंथ है कि जिसकी प्रतिज्ञा अपनी बात बौद्धिक रीति से ही कहने की है। तभी तो गीता के आरंभ, मध्य और अंत में 'बुद्धियोग' शब्द आता है। स्वर्गीय डोलर भाई ने तो बड़ी ही सरलता से यह प्रतिपादित किया था कि गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग, अनासक्ति योग नहीं है, अपितु बुद्धियोग है। पश्चिम में हिन्दू धर्म के अन्य ग्रंथों की अपेक्षा गीता को अधिक सम्मान मिला, इसका मुख्य कारण है इसमें ओतप्रोत हुआ बुद्धियोग।

श्रीकृष्ण के अनेक नामों का वर्णन आता है। गोपाल, गिरधर, यशोदानंदन, राधा-रमण, रुक्मणि प्रिय, योगेश्वर आदि, पर गीता में उनका जो स्वरूप उभरता है वह है जगद्गुरु का।

मात्र अर्जुन के ही नहीं, जीव मात्र के गुरु। जीव मात्र के हृदय में बैठकर उसका सारथी बनने को तत्पर, हँसमुख, दयालु, शिष्य के प्रति स्नेह से उसके साथ, उसके आसन पर उतर आने वाले वत्सल आचार्य।

गीता में प्रस्तुत तत्त्वज्ञान का महत्त्व समझने के लिए अनुगीता याद करने योग्य है। युद्ध की समाप्ति के बाद महाराज युधिष्ठिर राजगद्दी पर बैठे। एक बार अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा : 'आपने मुझे गीता में जो कहा था, वह मेरी फिर से सुनने की इच्छा है।' श्रीकृष्ण बोले : 'गीता में उस दिन मैंने जो

कहा था, वह फिर से बता पाना संभव नहीं, क्योंकि वह वार्तालाप मैंने समाधि अवस्था में किया था। वह आज अनुभव कर पाना संभव नहीं।' श्रीकृष्ण ने फिर से जो कहा उसे पढ़कर अनुगीता के पाठक कह सकते है कि उसमें कोई दम नही है।

गीता श्रीकृष्ण ने ही नहीं, समाधि-स्थिति के कृष्ण द्वारा प्राप्त अमृत है। अर्जुन की बौद्धिक तथा भावात्मक उलझन यह है कि क्या मात्र राज्य लोभ के लिए ही इन सगे-सबंधियों को मारना वाजिब है? वह तैयार नहीं है, क्योंकि वह उसे पाप लगता है। इसीलिए ऐसा घोर कर्म करने की बजाय संन्यास लेकर भिक्षान्न खाना उसे ठीक लगता है।

भारत की परंपरा में सामान्य तौर से कर्म-त्याग करके संन्यास लेने को उच्चतर अवस्था माना गया है। संसार के कर्म करने को हल्का माना गया है। क्योंकि माना जाता है कि कर्म बाँधता है। बंधन में बाँध कर तथा सांसारिक पाशों मे फँसाकर जन्म-मरण के चक्कर में डालता है, इसलिए जितना जल्दी यह कर्म छूटे, उतना ही अच्छा।

संसार से मोक्ष पाना पुरुष का आखिरी उत्तम लक्ष्य माना गया है। चूँकि संसार कर्ममय है और कर्म बंधन या पाश है, ऐसे में कर्म से छूटना पुरुषार्थी का प्रथम कर्तव्य है।

जब अर्जुन सगे-संबंधियों को मारने का कर्म छोड़कर संन्यास लेने की बात कहता है, तब उसकी समझ ऐसी है : 'किसलिए इन सब को मार कर कर्म का भार बाँधूं। एक-दिन तो यह सब छोड़ना ही है। इसके बगैर मोक्ष कहाँ ? तब फिर आज ही क्यों न छोड़ दूँ। और वह कह देता है : 'मै संन्यास ले लूँगा, पर लड़ूँगा नहीं। खून से सने हुए ये भोग मुझे नहीं चाहिए।'

ऐसी स्थिति में भगवान को संन्यास क्या है? कर्म क्या है? कर्म के बंधन से क्या मतलब है? कर्त्ता किसे कहेंगे?—इन तमाम प्रश्नों की चर्चा करनी पड़ी। ऐसा तो भारत भूमि में ही संभव है। युद्ध तो जब से मानव जाति बनी, तब से होते आए हैं। विगत् विश्वयुद्ध में और उससे पहले वाले प्रथम विश्वयुद्ध में सेना के संचालकों के सामने पनडुब्बी से युद्ध किया जाए या नहीं, युद्ध बंदियों को यातना दी जाए या नहीं, अणुयुद्ध, विषाणु युद्ध या विषाक्त गैस युद्ध किस मर्यादा में किया जाए, पराजित राष्ट्रों का नामो-निशान मिटा दिया जाए या उन पर भारी दंड लादा जाए— ऐसे प्रश्न खड़े

हुए थे। पर इन प्रश्नो की चर्चा शिष्टता, अंतर्राष्ट्रीय कानून, बलाबल, प्रति-प्रहार के भय और अधिक से अधिक सामाजिक स्वास्थ्य की बुनियाद पर ही हो पाई। इन प्रश्नों की चर्चा तत्वज्ञान की भूमिका पर किसी ने नहीं की। ऐसा तो सिर्फ भारत मे ही हो पाया। इसे भारत की सास्कृतिक विशेषता माना जाना चाहिए। यहाँ पर कोई भी गंभीर प्रश्न सिर्फ समाज-स्वास्थ्य के मंच के सम्मुख कभी नहीं अटका। इस अर्थ में महाभारत के मध्य में अगर ऐसी मूलगामी चर्चा होती है तो यह धार्मिक मनोवृत्ति की छटपटाहट का प्रतीक है। कीर्ति की कामना, अनिवार्यता का बल, परंपरा की प्रेरणा आदि कारणों से सामाजिक स्वास्थ्य का कर्म हो सकता है, पर आत्मदर्शन के साथ उसका कोई सबध नही है।

अर्जुन की उलझन गहरी थी, सतही नहीं, इसका सबूत यह था कि भगवान ने पहले तो सतही स्पष्टीकरण द्वारा उसे समझाने का प्रयत्न किया था :

'अब रणभूमि में आने के बाद अगर तुम नहीं लड़ोगे तो सब तुम्हारी मजाक उड़ायेंगे। क्षत्रिय धर्म के अनुसार तो तुम्हारे लिए यही स्वर्ग का प्रवेशद्वार है। और आततायी का वध करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। ऐसी घड़ी में ऐसी कमजोरी तुम में कहाँ से आई?'

भगवान ने इस तरह की सामान्य लोगों जैसी दलीलें कीं। साधारण आदमी में शूर-वीरता जगाने के लिए प्राय उसकी और कुल-परिवार की आन-आबरू बढ़ाने की बातें की ही जाती हैं। यह तो एक या दूसरे तरीके से अहंकार का ही आश्रय लेने जैसी ही बात है। अर्जुन पर इस तरह की बातो का कोई असर नही हुआ। उसको जो शोक उत्पन्न हुआ था, वह प्रगाढ़ था। उसको तो इस सवाल का स्पष्ट उत्तर चाहिए था कि ऐसे घोर कर्म को छोड़ कर संन्यास क्यों न ले लिया जाए। लोग उसकी मजाक उड़ायेंगे, मित्र हँसी करेंगे या शत्रु मसखरी करेंगे---इन बातों में उसे कोई सच्चाई नहीं लगती थी।

गीता ने इसका जैसा उत्तर दिया है, ऐसा किसी और धर्म ग्रंथ ने उत्तर दिया होगा, ऐसी कोई जानकारी नहीं है, यह बात स्वयं महात्मा गांधी ने भी प्रकट की थी।

भगवान का कहना है कि कर्म से नितांत छूट पाना देहधारी मनुष्य के लिए कदापि सम्भव नहीं।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।

कर्म का पूरी तरह से त्याग देहधारियों के लिए सभव ही नहीं। चलना, खाना-पीना, सोना, बात करना, आँखें झपकाना, बल्कि श्वासोच्छ्वास लेना-छोड़ना आदि सब कर्म हैं। संन्यासी भी इन कर्मो से नहीं छूटता। क्योंकि मूल रूप मे यह ससार कर्म-प्रधान ही है।

मनुष्य ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि, सूर्य तक क्षण भर आराम किए बगैर कर्म करता रहता है। अगर वह कर्म को छोड़ दे तो सृष्टि चले भी नहीं।

जब तक देह है तब तक मनुष्य कर्म को छोड़ सकेगा, यह सोच ही निराधार है।

अतएव अब सोचने-विचारने या पसंद करने की बात इतनी ही रह जाती है कि कौनसे कर्म किए जाएँ? और वे कर्म किस रीति से किए जाएँ ताकि बंधन पैदा न हो? गुरुदेव रवि ठाकुर ने कवि वाली कल्पना के आश्रय से कहा था कि 'जहाँ चारों ओर समुद्र ही समुद्र हो, वहाँ पानी उलीच कर उसे पार करने की बात संभव ही नहीं है। वहाँ तो नौका का सहारा लेकर ही समुद्र पार करने का उपाय है।'

इस संबंध में गीता का यह उत्तर है कि कर्म किसी को बाँधते नहीं। लेकिन कर्त्ता होने का अभिमान या फल प्राप्त करने की आशा अथवा आसक्ति से बंधन पैदा होते हैं। कर्त्तव्य अथवा फल की आसक्ति बगैर जो कर्म होते हैं उनका बंधन मनुष्य को होता नहीं। स्वयं अपने द्वारा किए गए कर्म का उसे पुनः रसात्मक स्मरण नहीं होता।

जो आदमी शरीर पर तेल लगाकर पानी में उतरता है उसके पानी नहीं चिपकता।

कर्मों के दो प्रकार होते है। एक सहज है, दूसरा आसक्तिपरक।

सहज कर्म कभी छूटता नहीं। हमारे हाथ-पैर सहज रूप से चलते रहें, रुके नहीं; लेकिन हम उनसे किसी की पिटाई करें, किसी को लात मारें तो इन दोनों कर्मो में गुणात्मकता की दृष्टि से अंतर है। जब हम किसी को मारते-पीटते हैं तो वह हमारी इन्द्रियो का सहज कर्म नहीं रहता; मन की आसक्ति और अहंकार से उपजा कर्म बन जाता है और उसका बंधन जरूर खड़ा होता है।

आँखे कितनी बार झपकाई या साँस कितनी बार ली, यह बात हम याद नहीं रखते। न इनको लेकर हमें अभिमान होता। इतनी सहजता के साथ मनुष्य सहज-प्राप्त कामो को करते हैं।

कर्म किये बिना इन्द्रियाँ रहेंगी नहीं। यह उनका व्यापार है। पर उनसे पैदा होने वाले फल में आसक्ति रखना तो हमारे मन का व्यापार है। मन को उस तरह की आसक्ति से लौटाने का काम, देहधारी के लिए प्रयत्न द्वारा साध्य है।

न्यायाधीश अनेक लोगों को दंड देता है, कइयों को छोड़ भी देता है। सजा में वह किसी को फाँसी, किसी को आजन्म कैद तो किसी को सख्त कैद देता है। ये सजाएँ देने या किसी को छोड़ देने का काम न्यायाधीश सामान्यतया कायदे-कानून के मुताबिक करते है। वे यह देखते हैं कि कायदे-कानून में क्या लिखा गया है। वे आरोपी-फरियादी की बातें भी सुनते हैं और अमुक परिस्थितियों में कानून जो निर्देश देता है, उसे देख कर फैसला सुनाते हैं। इस सारी प्रक्रिया में वे बहुधा राग-द्वेष को अंकुश में रखकर व्यवहार कर सकते हैं, करते हैं। इसका कारण यह है कि वे स्वयं को कर्त्ता नहीं मानते, अपितु कानून की व्यवस्था को निमित्त मानकर सोचते हैं और व्यवहार करते हैं। इसलिए शाम तक उनके कर्म झड़ जाते हैं।

डाकिया भी यही वृत्ति रखकर चलता है। वह किसी के विवाह के, किसी के शोक के, किसी के पास होने के, किसी के नापास होने के, शोक-आनंद के थोकबंद समाचार सिर पर रख कर घर-घर जाता है, पर उनका उस पर कोई असर नहीं होता क्योंकि वह अपने को फकत डाकिया मानता है।

गीता का कहना है कि इसी तरह इन्द्रियों को सहज और समाज को टिकाये रखने के लिए आवश्यक कर्म हो सकते हैं, होने भी चाहिए। फल की इच्छा के बिना ऐसे ढेर सारे कर्म करने वाले कर्म करते हुए भी संन्यासी ही हैं। संन्यासी और कर्मयोगी के बीच फर्क ही नहीं है। संन्यासी न बंधने के लिए कर्म को छोड़ता है, जबकि कर्मयोगी फलासक्ति छोड़ कर कर्म करता है, इसलिए उसे भी बंधन नहीं होता। अतः जो निर्बंध दशा संन्यासी को मिलती है वही मानो कर्मयोगी को प्राप्त होती है। वेदांत में ऐसे कर्मों को सिंके हुए बीज की संज्ञा दी गई है। सेंके हुए बीजों का बीजांकुर जल जाता है

इसलिए उनसे नया बीज नहीं बन सकता। लेकिन वे बीज खाये जा सकते हैं। अतः कर्म का बीजांकुर अगर फलासक्ति या अहंकार हो तो उसे गला डालने के बाद बंधन रूपी पौधा जन्मेगा ही नहीं।

सांख्य और कर्मयोग एक ही है। जिसने यही समझ लिया है, वही समझा हुआ है।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।

सांख्य और कर्मयोग अलग-अलग हैं, ऐसा तो बाल-बुद्धि वाले ही कह सकते हैं

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।

सिर्फ अंतर इतना ही है कि संन्यासी अपने शरीर की रक्षा के लिए भिक्षा माँगने, वस्त्र माँगने, पहनने, भोजन पचाने के लिए घूमने या व्यायाम आदि कर्म करता है, जबकि कर्मयोगी जो कर्म लोक-मंगल के लिए आवश्यक हैं और इन्द्रियों के लिए जो सहज हैं, वह करता है। दोनों में ही मूलतः आसक्ति तो त्यागनी ही होती है। तभी कालक्रमानुसार वे निश्चय ही मोक्षदशा प्राप्त करते हैं। मात्र संन्यासी के मार्ग में भ्रम रह पाना संभव है। वह कर्म करता है फिर भ्रम पाल सकता है कि वह कर्म नहीं करता। उसकी कर्म-जिज्ञासा या कर्मवृत्ति ही मंद नहीं हो पाती, कि वह हाथ जोड़ कर बैठ जाता है, जबकि भीतर तो कर्म-जिज्ञासा धधकती रहती है मगर बाहर से स्वयं को रोक कर संन्यासी के रूप में दिखाना चाहे, ऐसा संभव है। ऐसे संन्यासियों के त्याग का नानाभाई ने गधेड़िया संन्यास नामक कहानी में वर्णन किया है।

एक कुम्हार अपनी पत्नी से झगड़ा होने पर स्त्री-पुत्र आदि सब माया हैं, ऐसा कह कर भगवाँ धारण करके मंदिर में जा बैठा। लेकिन एक दिन उसकी बेटी पास के खेत में गधे चराने गई और खेत-मालिक ने उसे धमकाते हुए बिना बाप की कहते हुए खेत से निकाल दिया। लड़की बाप को याद करती हुई रोने लगी। सुनते ही पिता का पितृत्व भभक उठा और वह किसान से जाकर बोला : 'क्या तू यह समझता है कि इसकी कोई मदद करने वाला नहीं? यह खड़ा, अभी इसका बाप जीवित है, समझा?' तकरार बढ़ गई। तभी कुम्हारिन आकर उसे घर ले गई और कहने लगी : 'उतारो ये भगवाँ! कौन कहता है कि तुम लड़की के बाप नहीं हो?'

ऐसी संभावना देखकर गीता एक कदम आगे बढ़ कर कहती है कि कर्म करते-करते आखिर में अर्थात् कामना-विहीन पूर्ण संन्यास की अवस्था तक पहुँचने के बाद भी सहज कर्म जारी रखने चाहिए।

मनुष्य की संसार-यात्रा के नियमन के लिए सामान्य हिन्दू धर्म तीन आश्रम तक तो कर्म न छोड़ने की बात कहता है। लेकिन तीन आश्रमों की सीढ़ियाँ पार करने के बाद तो सन्यास ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए अनिवार्य है, ऐसा सूचित करता है।

इस संबंध में गीता नम्रतापूर्वक लेकिन दृढ़ता के साथ कहती है कि मोक्ष के लिए सन्यास अनिवार्य नहीं अपितु ज्ञान आवश्यक है। निर्लेपता तथा अहंकार-शून्यता आवश्यक है, लेकिन कर्मत्याग आवश्यक नहीं। परम उच्च दशा पर पहुँचे हुए लोगों को भी कर्म करना जारी रखना चाहिए। किसलिए? इसका उत्तर है लोक-संग्रह के लिए। इस दशा तक पहुँचने वालों के लिए कर्म का महत्त्व अथवा कामना-वृत्ति नहीं होती, लेकिन समाज को उनके कर्म से सबक मिलता है। जिनके मन में कर्म की वासना नहीं है, उनको गलत दृष्टान्त न मिले, इसके लिए कर्म जारी रखना चाहिए। भगवान ने दृष्टांत देते हुए कहा था : जनकादयः। इसका यह अर्थ है कि जनक जैसे अन्य कर्म-योगी पहले हो चुके हैं। जिसे स्वयं कर्म की भूख नहीं है, लेकिन कर्म स्वयं आ पड़ते हैं—फिर चाहे वह राज्य चलाने का हो, मदर टेरेसा की तरह रोगियों का उपचार करने का हो या खेत में पानी पिलाने का हो, अंतिम क्षण तक कर्म अटूट रीति से करते रहना चाहिए। उनको कर्ममय जीवन बिताते देखकर अगर दूसरे कर्म छोड़ें तो एक तरफ से उनके मन से कर्म का रस छूटेगा नहीं, फिर यदि आलस्य या नासमझी के कारण कर्म छोड़ें तो एक तरफ से घर-संसार नहीं चलेगा और दूसरी तरफ से उनकी भूमिका न होने के कारण उनको कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं मिलेगा। व्यष्टि और समष्टि दोनों बिगड़ेंगी। न शरीर यात्रा चलेगी, न समाजयात्रा। वे और दूसरे भ्रम में पड़ेंगे सो अलग। दूसरी तरफ से जो श्रेयार्थी है या जिसने श्रेय प्राप्त कर लिया है, उसे न तो कर्म करने के प्रति आग्रह है, न कर्म न करने को लेकर आग्रह है। यदि वे लोग अपना प्राप्त कर्तव्य करते रहें तो वे अधकचरे लोग बुद्धि-भ्रम से बचे रहें। उनके हाथ से जो काम होगा वह उत्तम ही होगा। क्योंकि उन्हें जल्दबाजी नहीं होगी, फल को लेकर अधीरता नहीं होगी, इसलिए बिना किसी घबराहट के और बिना लोभ-प्रेरित छल-छंद किए वे एकाग्रचित्त होकर काम करेंगे। इससे समाज को एक अच्छा उदाहरण

मिलेगा कि उत्तम रीति से किस तरह काम किया जाए। ऐसे उदाहरण सासारिक कर्मो के उत्तम परिणाम प्राप्त करने के लिए आज की भाषा में कहें तो 'पायलट प्रोजेक्ट' होंगे।

अतएव गीता ने योग की व्याख्या करते समय जिसमें समाधि होती है या जिसमें ध्यान स्थिर हो जाता है, ऐसी व्याख्या नहीं की। अपितु *'योगःकर्मसु कौशलम्' योग अर्थात् कर्म-कौशल—ऐसा अर्थ तय किया है।*

इस कर्म-कौशल में गीता ने पहली बात यह की है कि कौशल की छटपटाहट वालों को कर्म की खोज मे नहीं जाना है। तुम्हारा स्वभाव ही तुम्हारे सहज कर्म कराता है।

स्वभाव अर्थात् स्व का भाव। स्व को जिसकी सदैव रटन बनी रहे, वह है स्वभाव। कवि को सर्वत्र कविता दिखती है, तो चित्रकार को रंग और रेखाओं का तानाबाना। इस्माइल दादा और झवेर दादा को सम्पूर्ण सृष्टि में फूलों और गेहूँ की किस्में ही दिखाई देंगी। इस ओर उनका सहज ही ध्यान चला जाएगा। इस एकाग्रता के लिए उनको प्राणायाम नहीं करना पड़ेगा।

कर्म जब स्वभाव के अनुसार होता है तो सरलता बनी रहती है। यही नहीं उसे करने में आनंद आता है। वह फल से भी विशेष होता है अतः फल प्राप्त करने की लालसा जीतनी आसान होती है। चित्रकार चित्रों के सृजन में तन्मय रहता है। वह अपने भाव मे भीगता हुआ आह्लाद और संतोष प्राप्त करता है अतः उस चित्र की उसे कितनी कीमत मिलेगी, इस तरह की बातों में उसे आनंद नहीं आता। अगर उसे अधिक पैसा प्राप्त करने के लिए वकालत की सुविधा भी दी जाती है तो वह नहीं लेता।

इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुरूप व्यवहार नहीं करता, पैसों व अन्य ऐसे-ऐसे कारणों से स्वभाव के विरुद्ध काम [illegible] ले लेता है, उसे अव्वल तो वह काम उकता देने वाला लगता है और फिर भीतर का संतोष नहीं मिलता। इसलिए संतोष का [illegible] करने के लिए वह दूसरी अस्वाभाविक क्रियाओं अथवा प्रवृत्तियों को [illegible] है, जो फिर से नई अतृप्ति पैदा करती हैं।

भयावहः। अर्थात अपने धर्म का आचरण करते हुए अगर मरना भी पड़ता है तो अच्छा है, लेकिन परधर्म तो भयजनक है।'

यहाँ स्वधर्म अर्थात हिन्दू, मुस्लिम, शैव, स्वामिनारायण अथवा जैन धर्म नहीं।

तुम्हारा स्वधर्म अर्थात् जिस प्रवृत्ति में परिणाम या फल के लिए नहीं अपितु प्रवृत्ति के कारण आनंद आता है, वह तुम्हारा धर्म है। यहाँ धर्म का अर्थ अंग्रेजी मे कहें तो 'नेचर' तुम्हारी प्रकृति है। ऐसे स्वधर्म-नियत परिश्रम का परिणाम पूरा आए या न आए, मनुष्य को आत्मानंद तो उसमें मिलता ही है, और परधर्म-सेवन का परिणाम भयजनक इस अर्थ में बनता है कि उससे आत्मानद नही मिलता, न ही समाज का विकास हो पाता। दोनों ही बिगड़ जाते हैं।

भगवान ने तो यहाँ तक कह दिया कि स्वधर्म के मार्ग पर मृत्यु मिले तो भी अच्छा है।

कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मृत्यु को सामने देखा तब भी कविता ही स्फुरित हुई। 'अयि छलनामयि!' काव्य रचने के आनंद मे जीव मात्र को डरपाता मृत्यु का भय धुल गया।

यह स्वभाव-नियत कर्म से संबंधित भगवान का आग्रह इतना जबरदस्त है कि वापस अंतिम अध्याय में भी वे अर्जुन को चेताये बिना नहीं रह सके।

'तू हठ करने अगर यह कहेगा कि नहीं लडूँगा। तब भी तेरा स्वभाव तुझे लड़ने की तरफ ले जाए बिना नहीं रहेगा।'

इसलिए संन्यास लिये बगैर प्रसंग उपस्थित होते ही तू युद्धाभिमुख हुए बिना नही रहेगा।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपितत्।।

अर्थात् कर्मयोगी बनने के इच्छुक व्यक्ति को स्वभाव-नियत कर्म करना चाहिए, यह पहली सीख।

दूसरी सीख यह कि ऐसे कर्म भी फल की आसक्ति रखे बिना, ईश्वरार्पण-बुद्धि किये जाएँ। फल की आशा क्यों न रखी जाए? जब हम कर्म करते है तो फल का आग्रह तो रहता ही है न!

गीता का कहना है कि कर्म के परिणाम लाने वाले हेतु विविध प्रकार के होते हैं। वे सभी कर्त्ता की नजर में हों हीं, ऐसा नहीं होता। अगर नजर में हो तब भी उन सब पर हमारा नियंत्रण हो, यह सभव नहीं है। फल लाने के लिए कर्त्ता, कर्म का अधिष्ठान, औजार, क्रिया-कल्पना—सभी कुछ चाहिए। जिस तरह खेती के लिए किसान, जमीन, हल-बैल, बीज-खाद और इन सभी के उपयोग का ज्ञान तो होना ही चाहिए। यह सब हो, तब भी यह जरूरी नहीं कि जितनी धारणा थी, उतनी फसल पकेगी ही। वर्षा न होना, अतिवृष्टि, समय पर न आना, कीट-पतंगों का आना—कैसे-कैसे प्रतिकूल-अनुकूल हेतु होते हैं। इस सभी बलों की गीता ने 'दैव' शब्द से पहचान कराई है:

दैव चैवात्र पंचमम्।

दैव पाँचवाँ बल है। लेकिन उसका योगदान पाँचवें भाग का ही हो, ऐसा नहीं है। दैव अनुकूल हो तो प्रति बीघा बीस मन मूँगफली मिल जाती है, और प्रतिकूल हो तो दो मन ही पैदा हो पाती है, भले ही शेष चारों हेतु अनुकूल रहें।

ऐसी परिस्थिति मे अगर कोई ऐसा अभिमान करे कि मैंने बीस मन मूँगफली उगाई, तो यह बात किस हद तक वाजिब अथवा वैज्ञानिक कही जाएगी? अथवा दो मन ही हुई तो अफसोस किस काम का? दैव कितना चामत्कारिक बल है, इसे दो महापुरुषों के संध्याकाल के स्मरण से प्रत्यक्ष समझा जा सकता है।

इस युग में महात्मा गाँधी से बड़ा कोई आदमी नहीं हुआ। उनके शब्द सुनते ही भारत की जनता पगलाई हुई बाढ़ की तरह उमड़ आती थी। उनके व्यक्तित्व और उनकी वाणी ने भारत के अनपढ़ों, पढ़े-लिखों, भोले या चतुर—हर किसी को एक बार तो कृष्ण की बाँसुरी की तरह नचा दिया था। उनके शब्दों की प्रतिध्वनि ठेठ वाइसराय तक पहुँचती थी। उनके लिए अपना सिर काटकर अर्पित करने वालों की कतारें की कतारें चलती थी।

बड़प्पन था, पर दैव ने उसकी बात को फसल कटाई की पिछली रात हुए हिमपात की तरह उलट डाला। उसके द्वारा लिखे हुए वृहद् और रसमय युद्धकांड के अंतिम अध्याय बार-बार पढ़ने लायक है। जिसे साथी बनाकर हिटलर के पाशवी आक्रमण से बचाया था, उस रूस ने ऐसी शरारत की कि जिस पौलैंड को स्वतंत्र रखने के लिए उसने भीषण युद्ध लड़ा, उसी को रूसी नियंत्रण के नीचे जाते हुए देखना पड़ा था। और जिस अमेरिका ने इग्लैड, रूस और यूरोप को डूबने से बचाया, उस अमेरिका के राष्ट्रपति की अल्पदर्शिता से मुँह तक आया ग्रास छिन गया। उसकी बात किसी ने नही सुनी। उसके विषाद और भेद को सजीव करने के लिए इस युद्ध अध्याय का नाम 'विजय और शोकांतिका' दिया गया। और अध्याय के प्रारंभ में लिखा गया कि :

'महान प्रजातांत्रिक देश किस तरह जीते और परिणामत' जिन पुरानी गलतियों ने उन्हें लगभग मृत्यु के द्वार तक घसीट लिया, वे फिर से शुरू करने के लिए शक्ति सम्पन्न हो गए।'

पढ़कर कहना पड़ता है—

दैवं एवात्र पचमम्।

कर्मफल की लालसा या तृष्णा तो न ही रखें, लेकिन भीतर सूक्ष्म रीति से मैं कर्त्ता हूँ, ऐसा भाव भी न रखें। जब तक वह रहेगा कर्म-कौशल का योग सिद्ध नहीं होगा।

चलो, हम कर्त्ता नही हैं। तो फिर कर्त्ता कौन है? या तो ईश्वर, जो सब के हृदय में बैठा है। पुकारने पर जो चला आता है, नहीं तो साक्षी भाव से हमारे काल-वन में ये भूलभुलैया-खेल देखता रहता है, और हमारी चिंता करता रहता है। वही कर्त्ता है, यही मानकर सब कुछ उसी को अर्पित कर देना चाहिए।

दूसरी दृष्टि यह है कि यह सब प्रकृति करती है।

प्रकृति के तीन गुण अपने ढंग से चलते हैं। उनको समझते हुए उसकी गति को देखते रहें। पर खेल में शामिल न होना चाहिए। बाहर से नट और भीतर से प्रेक्षक की अवस्था बनाए रखनी। संसार में बोलते-व्यवहार करते दिखाई देते हुए भी पृथक भाव में जीना सीखना। जब मनुष्य नहीं था, तब भी तो संसार चलता था—कौन चलाता था इसे।

उन्हीं गाँधी जी को अंतिम वर्षों में ऐसा कहने का समय आ गया कि 'मेरी कोई सुनता नहीं, मैं अकेला पड़ गया हूँ।'

क्या 1921-1930-1939-1942 के गाँधी जी बदल गए थे?

नहीं। उल्टे उनका तेज जैसा अंतिम वर्षों में प्रकट हुआ, उनकी ईश्वरनिष्ठा, उनकी सत्य-परायणता जैसी पिछले वर्षों में प्रकट हुई, वैसी पहले प्रकट नहीं हुई थी।

उनकी नौआखाली यात्रा महाभारत में वर्णित धर्मराज की अंतिम यात्रा से जरा भी न्यून नहीं। माँ के पेट से अवतरित किसी भी सपूत में ऐसा शांत पराक्रम आज तक नहीं प्रकटा। मानो कोई दिक्‌पाल अकेले हाथ उठाकर आकाश को टूट गिरने से रोक रहा था।

इसके बावजूद उनकी इच्छा के विरुद्ध देश का विभाजन हुआ, यही नहीं विधाता ने उनके द्वारा विभाजन का समर्थन कराया।

उनके साथी उनको छोड़कर अलग रास्ते चले गये। उनकी बात सुनी नहीं गई। जो जनता उनको सुनने के लिए उमड़ी पड़ती थी, उसी ने मानो उन्हें सुनने से इनकार कर दिया।

इससे देश को होने वाले नुकसान को गाँधीजी साफ देख रहे थे, पर रो नहीं सकते थे। रोते तो किसके सामने? धर्मराज के साथ तो उनका एक कुत्ता भी था।

दैव चैवात्र पंचमम्।

ऐसी दुनिया में कर्त्ता होने का अभिमान रखना क्या अज्ञान की हद नहीं है?

द्वितीय विश्वयुद्ध में चर्चिल ने इंग्लैंड को विजयी बनाया था। ठेठ मृत्यु के द्वार तक पहुँचे हुए इंग्लैंड को और अन्य देशों को अपने अगाध संकल्प-बल, खेल-दिली, व्यूह रचना, वाणी के तेज और चातुर्य से उसने उबार लिया। अगर चर्चिल की यह शक्ति सफल न हुई होती तो संसार में कितने ही 'गुलाग आर्किपेलागो'—गुलामों के नरकागार खड़े हो गए होते। संस्कृति भी कितनी ही समयावधि तक दब-कुचलकर मूर्च्छित हो गई होती।

इसके बावजूद विजयोत्सव के अवसर पर उसी के देशवासियों ने चर्चिल को चुनावों में हरा दिया। चर्चिल उस जहर को पचा गया, यह उसका

बड़प्पन था, पर दैव ने उसकी बात को फसल कटाई की पिछली रात हुए हिमपात की तरह उलट डाला। उसके द्वारा लिखे हुए वृहद् और रसमय युद्धकांड के अंतिम अध्याय बार-बार पढ़ने लायक है। जिसे साथी बनाकर हिटलर के पाशवी आक्रमण से बचाया था, उस रूस ने ऐसी शरारत की कि जिस पौलैंड को स्वतत्र रखने के लिए उसने भीषण युद्ध लड़ा, उसी को रूसी नियंत्रण के नीचे जाते हुए देखना पड़ा था। और जिस अमेरिका ने इग्लैड, रूस और यूरोप को डूबने से बचाया, उस अमेरिका के राष्ट्रपति की अल्पदर्शिता से मुँह तक आया ग्रास छिन गया। उसकी बात किसी ने नहीं सुनी। उसके विषाद और भेद को सजीव करने के लिए इस युद्ध अध्याय का नाम 'विजय और शोकांतिका' दिया गया। और अध्याय के प्रारंभ में लिखा गया कि :

'महान प्रजातांत्रिक देश किस तरह जीते और परिणामतः जिन पुरानी गलतियों ने उन्हें लगभग मृत्यु के द्वार तक घसीट लिया, वे फिर से शुरू करने के लिए शक्ति सम्पन्न हो गए।'

पढ़कर कहना पड़ता है—

दैवं एवात्र पचमम्।

कर्मफल की लालसा या तृष्णा तो न ही रखें, लेकिन भीतर सूक्ष्म रीति से मै कर्त्ता हूँ, ऐसा भाव भी न रखें। जब तक वह रहेगा कर्म-कौशल का योग सिद्ध नहीं होगा।

चलो, हम कर्त्ता नहीं हैं। तो फिर कर्त्ता कौन है? या तो ईश्वर, जो सब के हृदय में बैठा है। पुकारने पर जो चला आता है, नहीं तो साक्षी भाव से हमारे काल-वन में ये भूलभुलैया-खेल देखता रहता है, और हमारी चिंता करता रहता है। वही कर्त्ता है, यही मानकर सब कुछ उसी को अर्पित कर देना चाहिए।

दूसरी दृष्टि यह है कि यह सब प्रकृति करती है।

प्रकृति के तीन गुण अपने ढंग से चलते है। उनको समझते हुए उसकी गति को देखते रहें। पर खेल में शामिल न होना चाहिए। बाहर से नट और भीतर से प्रेक्षक की अवस्था बनाए रखनी। संसार में बोलते-व्यवहार करते दिखाई देते हुए भी पृथक भाव से जीना सीखना। जब मनुष्य नहीं था, तब भी तो संसार चलता था——कौन चलाता था इसे।

दोनों दृष्टियों का परिणाम तो अंत में एक ही है . निस्संगता, कर्म शुद्धि—मोक्ष। जब आदमी स्वयं को कर्त्ता मानता है तभी तो बुरे काम करता है और अपने लिए बंधन पैदा करता है। जब कोई फल के प्रति आसक्ति रखता है तभी तो हर्ष-शोक के वशीभूत होता है। ज्योंही आदमी यह समझ लेता है कि इन्द्रियों, मन अथवा अहंकार का व्यापार मेरा नहीं, त्योंही कर्म का उलझन भरी जाल या कर्म का घटाटोप अपने-आप बंद होने लगता है।

मैं राजा हूँ, मुझे मान मिलना चाहिए, मुझे पूछे बगैर कुछ नहीं होना चाहिए, क्या तुम मुझे मान नहीं देते? मुझसे विरुद्ध बात बोलते हो? डाल दो इसको जेल में।

मैं पति हूँ और मेरी पत्नी मुझे मान न दे? तब भला मेरी मर्दानगी कैसी?

ऐसी वृत्ति उस व्यक्ति को लेकर तो नहीं होगी, जिसका स्वयं पति नहीं है।

कर्म का उभार परिणाम के आग्रह, कर्त्ता होने की स्वीकृति और इन्द्रिय सुख की लालसा के बगैर संभव नहीं।

हाँ, इन्द्रिय व्यापार है, मन है—इन सबका भान अहंकार रूपी है। प्रकृति इन रूपों में रहती ही है। मुझे कोई मनुभाई के नाम से पुकारेगा तो मैं उसकी तरफ देखूँगा। यह तो होगा ही। कान उस आवाज को सुनेंगे, आँखें आवाज देने वाले को देखेंगी और जीभ कहेगी : 'मैं, मनुभाई!'

लेकिन कहेगी किस तरह? उत्साह से? अनमने भाव से? लापरवाही से? स्नेह से? सूखेपन से? अनेक तरह से मैं बोल सकता हूँ। इसी तरह आँखें भी अनेक तरह से देख सकेंगी। हाथ विविध तरह से चलाये जा सकेंगे। ये सब तो आसक्ति के द्वारा उत्पन्न हुए अथवा दुलारे हुए प्रवाह हैं। उनका इन्द्रियों के साथ कोई संबंध नहीं। मन व अहंकार तो मैंने खेत में कर्त्ता और भोक्तापने के जो बीज डाले थे, उनके अंकुर हैं अथवा यों कहें कि संसार-बेलें हैं।

गीता कहती है कि ये न तो अंत में सुख देने वाले, न श्रेयस्कर, न अनिवार्य।

संसार में हमें हमारे हिस्से आए हुए सहज कर्म भी लिप्त हुए बिना करने हैं। अन्यत्र कहीं ढूंढने जाने की जरूरत नहीं है। उनकी मंजिल पर मंजिलें बाँधने की भी जरूरत नहीं है।

जब हम ऐसा करेंगे तभी यज्ञ, दान, तप जैसे कर्म रहेंगे।

सहज देह-व्यापार, और उससे संबंधित समाज-व्यवहार चलाने हेतु आवश्यक कर्म ही यज्ञ है, उसके निमित्त कष्ट सहने की तालीम तप है; तथा उसके फल को जरूरतमंदों में देश, काल, पात्रानुसार बदले की आशा-आकांक्षा रखे बगैर वितरित कर देना दान है।

गीता की स्पष्ट आज्ञा है कि ये काम छोड़े नहीं जा सकते क्योंकि ये चित्त को पवित्र करने वाले हैं।

> यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
> यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।

गीता ने यज्ञ शब्द का अभूतपूर्व विस्तार करके हम पर महान् उपकार किया है। प्रारंभिक आर्यों का समाज तो वेदी में हवन करने को ही यज्ञ मानता था। इससे जीवन के दो भाग हो जाते थे। वेदी के पास होने वाले कर्म यज्ञमय, और शेष कर्म? भोगमय? अगर अधिकतर समय भोगमय हो जाए तो बंधनों का क्षेत्र ही बड़ा रह जाएगा। ऐसे में मोक्ष कैसे मिलेगा?

गीता ने इस असंगति का जो समाधान ढूँढ़ा है वह यज्ञ का अत्यंत व्यापक, अत्यंत सूक्ष्म तथा मूलगामी अर्थ है :

> द्रव्य यज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
> स्वाध्याय ज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।
> एव बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
> कर्मजान्विद्धि तानसवनिवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।

यह स्पष्ट हो गया अर्थात् ईश्वरार्पण-बुद्धि से जो भी काम किया जाएगा, वही यज्ञ है। कबीर ने भी कहा है :

> जहाँ सोवो वहाँ करौ दंडवत्
> जो करौ सो पूजा
> साधो सहज समाधि भली।

अत: बाह्य सृष्टि को होने वाले नुकसान को रोक कर उसे टिकाये रखने हेतु जो आवश्यक कर्म है, वे सब यज्ञ-कर्म बन सकते हैं। इस समझ को व्यापक बनाते हुए गांधीजी ने कताई-यज्ञ और सफाई-यज्ञ शुरू किए थे।

श्रीकृष्ण ने गीता में ऐसी बातें कही हैं और अर्जुन से उन्होंने आखिरकार युद्ध का घोर कर्म करवाया।

पर अगर कर्म-संन्यास ही गीता का हेतु रहा होता तो अर्जुन का जब प्रथम अध्याय में ही वैराग्य पैदा हो गया था, तभी भगवान ने उसे दो जोड़े कपड़े, थोड़ा गेरुवाँ रंग और खड़ताल दे दी होती। सिर्फ शिवास्तेपंथान: कहने मात्र से बात बन गई होती, पर वैसा किया नहीं। अठारह अध्यायों तक अर्जुन द्वारा उठाए गए प्रश्नों के उत्तर देते हुए अंत में कर्मों में जो विषम कर्म कहलाता है, उस युद्ध के घोर कर्म और उसे किस तरह करने पर वह बंधन-स्वरूप नहीं होता, उसे भी अनेक दृष्टिकोणों से छान कर बड़ी ही सांगोपांग विधि से समझाया है।

इसलिए इस बात में संदेह की कोई गुंजाइश ही नहीं है कि गीता अनासक्त कर्मयोग के प्रतिपादन के लिए लिखी गई थी।

पर हम तो महाभारत को समझने का प्रयास कर रहे हैं। क्षण भर के लिए हम यही मान लें कि श्रीकृष्ण को निमित्त बना कर व्यास जी ने ही यह सब रचा था। अगर यह बात है तब तो व्यास जी का यह मत अन्य स्थानों पर भी प्रसंगानुरूप दिखाई देना चाहिए।

कृष्ण सचमुच हुए थे। यही नहीं, वे योगेश्वर थे और यज्ञ के स्वरूप में उन्होंने क्रांतिकारी परिवर्तन किया था, ऐसा छांदोग्य उपनिषद में उल्लेख है। व्यास जी ने भी श्रीकृष्ण के समकालीन युगपुरुष और ईश्वरी अवतार दोनों रूपों के दर्शन कराये हैं।

अगर यह मान ले कि यह कवि की सृष्टि है तो इसी विचार को व्यास जी ने अपने महाकाव्य में अन्यत्र भी तो दर्शाया है, ऐसा पूछा जा सकता है।

तेरह वर्षों के बाद पांडव प्रकट हुए और युद्ध की तैयारी करने लगे, तब धृतराष्ट्र ने संजय को अपना संदेश देकर भेजा था। जब उसने पांडवों को कुल के वध जैसा भयानक कर्म न करने और यादवों के राज्य मे आश्रित के बतौर रहने की सलाह भेजी तब श्री कृष्ण ने जो उत्तर दिया था, वह संक्षेप मे

गीता का ही सार-तत्त्व था। श्रीकृष्ण ने कहा था : 'संजय! कौरवों का नाश किए बिना अगर सफलता का कोई रास्ता पांडवों को मिलता है तो इन लोगों को पुण्य मिलेगा। पर यथाशक्ति स्वधर्मानुसार चलते हुए दैववशात् मृत्यु का सामना करना पड़े, तो उनकी मृत्यु भी श्रेयस्कर है। और तब धनुर्धारी की तरह ताकते हुए लक्ष्य-संधान करते हुए उन्होंने पूछा : 'संजय! तुम क्या समझते हो, युद्ध करने से धर्मतंत्र बचेगा या युद्ध न करने से? तुम्हारी बातें मुझे दूध-दही जैसी लगती है।'

यह पढ़ने पर स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण अथवा व्यास जिसने गीता में जिस जीवन-विद्या की मीमांसा की थी, वे उनके गढ़े हुए विचार थे। उद्योग पर्व की इस बात का तर्क और तत्त्वज्ञानयुक्त विवेचन गीता में है। कवि को अपना मनोभाव इस तरह सीधे-सादे रूप में रखने में संतुष्टि नहीं मिली, अतः काव्यमय संवाद के द्वारा इसका भाष्य किया है।

महाभारत के अन्य दो स्थलों पर व्यास जी ने कौशिक-धर्मव्याध और तुलाधार-जाजलि के आख्यानों द्वारा अपना हृदय प्रकट किया है। इनको गीता का वार्तिक ही कहा जा सकता है। इन आख्यानों के द्वारा गीता के उपदेश का व्यवहार के साथ मेल कराया गया है।

कौशिक ब्राह्मण-पुत्र थे। उनके घर में बूढ़े माँ-बाप बैठे थे। उनके मन में मोक्ष-तप का बहुत आकर्षण था। उस काल की सामान्य परंपरा के अनुसार उनको लग रहा था कि सगे-संबंधी और यह सारा संसार मिथ्या है। सत्य है तो सिर्फ तप। तप से ही तमाम सिद्धियाँ—स्वर्ग, ज्ञान, मोक्ष मिलती हैं। अंधे माता-पिता को छोड़ कर वे एक दिन तप करने चले गए।

'कौशिक ब्राह्मण महा तपोधन
तप-तप कर तन किया काष्ठ सम।'

तप करते-करते एक दिन नहा-धोकर वे एक पेड़ के नीचे बैठे थे। तभी पेड़ पर बैठी एक बगुली ने उन पर बींट कर दी। गुस्से में उन्होंने नजर उठाकर ऊपर देखा। क्रोध की मारी बगुली जलकर भस्म हो गई।

यह देखकर कौशिक को लगा, 'हाँ, अब मेरी तपस्या फलीभूत हुई है। कैसा तप है मेरा? नजर डालते ही बगुली भस्म हो गई। संसार में पड़ा रहता तो ऐसी सिद्धि कहाँ से मिलती? तप ही सत्य है, शेष सब मिथ्या है।

'मिथ्या माता-पिता, मिथ्या सब चिंता
सत्य एक मना, तप की संसार में।'

नहा-धोकर कौशिक पास के शहर में भिक्षा लेने गए। एक ब्राह्मण के घर पहुंचे। बरतन धोती हुई गृहिणी ने उठकर कहा : 'अभी भिक्षा लाई, महाराज!' वह अंदर गई। तभी बाहर से उसका पति आ गया और पति-परायणा स्त्री उनकी अगवानी में लग गई। उसे याद ही नहीं रहा कि बाहर साधु खड़ा है। वहां कौशिक इंतजार कर रहे थे कि अब आएगी, अब आएगी। लेकिन गृहिणी को अतिथि की याद ही नहीं रही।

'मूलत क्रोधी वह, ऊपर से भूखा था
ऊपर से अविवेक आ मिला गृहिणी का।
प्रकट हुआ अनल, उसमें हुआ कुछ ऐसा
प्रति पल विलंब और विलंब हुआ जाता था।।'

पति की संतुष्टि के बाद गृहिणी को अतिथि की याद आई। हाँफती-हाँफती बेचारी शरमाती-झेंपती भिक्षा लेकर दौड़ी आई, 'महाराज क्षमा करें। पति आ गए थे और मैं उनकी सेवा में आपको भूल गई।'

पर उनका नाम था कौशिक। उनका मिजाज गृहिणी के विनय को देखकर उल्टा बिगड़ गया।

'आती हूँ कहकर गई, अब आई दोपहर को,
क्या यही है गृहस्थाई तेरी उल्टी?

अतिथि-सत्कार तो आर्यों का धर्म है। पति बड़ा है या अतिथि? अतिथि को धूप में खड़ा रखकर तपाते हुए तुझे शरम नहीं आई?

गृहिणी ने बहुत विनय दिखाई, गिड़गिड़ाई, 'मैं आपकी अपराधी हूँ, क्षमा करें।'

कौशिक का पारा चढ़ता ही गया। होंठ काँपने लगे, आँखें मानो सुलग उठी। हाल ही में उन्होंने बगुली को देखा था।

युवा साधु का ऐसा आचार देखकर गृहिणी हँस कर बोली : 'महाराज! क्या आप मुझे भी बगुली समझते हैं, जो मैं आपके क्रोध से जल जाऊँगी?'

वचन सुनते ही जैसे अफीम का नशा उतरता है, वैसे कौशिक जी ढीले हो गए।

'बहन! भिक्षा बाद में, पहले मुझे यह बताओ कि मेरी नजर पड़ते ही बगुली के जल जाने की बात तुमने कैसे जानी?'

गृहिणी बोली - 'यह जानने के लिए आपको मथुरा में एक धर्मव्याध हैं, उनके यहाँ जाना होगा। पहले जरा शात हो जाइए और फिर मथुरा चले जाइए।'

'क्या मुझे एक कसाई से जाकर यह जानना पड़ेगा?'

'हाँ, व्याध! लेकिन कसाई की देह में तो साधु का निवास है।'

कौशिक धर्मव्याध की दुकान पर गए। जुगतराम भाई ने वहाँ का बड़ा ही सरस जुगुप्सादाई वर्णन किया है :

'हड्डियाँ बिखरी कहीं पर सड़ रहा है चाम।
फैली है दुर्गंध, बह रही वायु असहनीय।।'

देखा कि धर्मव्याध के हाथ में छुरी थी, पर आँखों में दया थी। भिखारियों को वह माँस का टुकड़ा देता था। लोगों ने जब स्नान-संध्यायुक्त ब्राह्मण को कसाईवाड़े में खड़ा देखा तो आश्चर्य हुआ। तभी दुकान से उतरकर वह धर्मव्याध कौशिक को हाथ जोड़कर कहने लगा : 'पधारो महाराज! उस गृहिणी ने आपको भेजा है न! दो पल रुकिये, दुकान बंद करके आता हूँ।'

कौशिक के आश्चर्य की सीमा न रही! 'भला इसे कैसे पता लगा कि मुझे उस ब्राह्मणी ने भेजा है? न जाने इन लोगों का तप कैसा होगा?'

धर्मव्याध के स्वच्छ घर में कौशिक को जो ज्ञान मिलता है, वह इतना ही है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए घर की जिम्मेदारियाँ छोड़कर बाहर भटकने की अथवा उल्टे लटक कर तप करने की जरूरत नहीं। ऐसे तप अथवा सिद्धि से ज्ञान हर्गिज नही मिलता।

हम लोग जिस परिस्थिति में भी हों, उसी में स्थिर रहते हुए ईश्वरार्पण-बुद्धि से, ममता रहित होकर अगर सहज कर्म करते रहेंगे तो उसी मे अष्टसिद्धि और नवनिधि प्राप्त हो जाएगी।

धर्मव्याध बोला : 'मेरा वंश-परम्परागत धंधा है कसाई का। मैं प्राणियों को कम से कम कष्ट देते हुए उन्हें मारकर अपनी आजीविका चलाता हूं। ये मेरे वृद्ध मां-बाप ही मेरे ईश्वर हैं और इनकी सेवा चाकरी ही मेरी पूजा है, इनके सिवा न दूसरा ध्यान है, न दूसरा तप। इसी से मुझे सब कुछ प्राप्त हुआ है। भगवान की कृपा से तुम्हारे भी तो माता-पिता हैं न, भाई! घर जाओ, सच्चे मन से उनकी चाकरी करो, तुम्हें समस्त ज्ञान प्राप्त हो जाएगा।'

और कवि—महाकवि ने जीवन का गूढ़ प्रश्न कितना सरलता से समझा दिया। ऊंचा से ऊंचा वर्ण ब्राह्मण का, वह भी तपस्वी, ऊपर से सिद्ध, लेकिन ठहरा अज्ञानी।

इसके विपरीत नारी, वैश्य और शूद्र के उपेक्षादायी वर्ग में आने वाली एक नारी और कसाई गुरु और ज्ञानी, जिन्हें वेदोच्चार तक का अधिकार न था, और वह ब्राह्मण अज्ञानी, शिष्य बन कर पेश हुआ।

और शास्त्रों, वेद-पारंगतों द्वारा वर्णित तप महिमा, सिद्धि, प्राणायाम, संन्यास, यज्ञयाग, यात्रा आदि तमाम रास्ते निष्कृष्ट, श्रेष्ठ मार्ग सहज कर्मों वाला, सहज रीति से भगवान के द्वारा सौंपा हुआ काम समझकर करने का।

तुलाधार-जाजलि आख्यान में भी जाजलि एक बड़ा तपस्वी है। उसकी जटाओं में पक्षियों ने घोंसला बनाकर अंडे रख दिये। कहीं अंडे गिर न पड़े इसलिए जाजलि बिना हिले-डुले वैसे का वैसा बैठा रहा। जब अंडों से पक्षी निकल आये और उड़ गए, तभी जाजलि उठा और अपनी ऐसी तपस्या पर स्वयं ही न्यौछावर जाते हुए बोला : 'मेरे जैसी तपस्या और किसने की होगी? मैं महान तपस्वी हूं।'

उसी समय आकाशवाणी हुई, 'तुम्हारी अपेक्षा काशी का तुलाधार बड़ा तपस्वी है, पर वह भी इस तरह की बड़ाई का पात्र नहीं।'

जाजलि तुलाधार के पास जाकर उसकी साधना का रहस्य पूछने लगा। वैश्य तुलाधार बोला : 'मैं किसी को ठगता नहीं, कभी झूठ बोलता नहीं, जरूरत से ज्यादा कमाता नहीं और सब को समान दृष्टि से देखता हूं।' और तब तराजू की डांडी बताते हुए बोला : 'जिस तरह यह डांडी सम है, वैसे ही मेरी मनोवृत्ति सीधी और सम है।'

इन दोनों उदाहरणों से महाभारतकार को यह कहना था कि—

(1) स्वभाव के अनुरूप प्रवाह-प्राप्त कर्तव्यों को सम-दृष्टि से जो करे वही तप, यज्ञ, धर्म—जो कहो, है। भले ही उसे करने वाला संसारी हो या एकाकी।

(2) कर्म महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है उसके पीछे कर्त्ता की दृष्टि अथवा भाव। जिसकी भावना कर्त्ता होने के अहकार से रहित है, फलेच्छा से प्रेरित हुए बगैर और स्वधर्मनिरत दृष्टि में सभी प्राणियों का कल्याण देखने वाली है, भले ही वह गृहस्थी हो, व्यापारी हो या व्याध हो, वह तपस्वी है, ज्ञानी है।

महाभारत के ऋषि ने कसाई का आत्यंतिक उदाहरण देकर बात को और स्पष्ट किया है।

मांस बेचने का धंधा जुगुप्सादायी ही है, लेकिन तत्कालीन समाज के लिए उस समय उपयोगी था, इसलिए किसी न किसी को तो करना ही था। जब करना ही पड़ेगा तो अनासक्ति से, ईश्वरार्पण-बुद्धि से उस व्यवसाय को करके दूसरों के लिए उदाहरण-स्वरूप बनाया जाए, इसी में व्यक्ति और समाज दोनों का भला था।

सिपाही का धंधा समाज-धारणा के लिए आवश्यक है। जब आवश्यक है तो अनासक्त बुद्धि से ईश्वर का स्मरण करते हुए इस व्यवसाय को करना चाहिए, ताकि निजी वैर-लोभ के बगैर, अनावश्यक क्रूरता को त्यागकर कैसे लड़ा जाए, इसका उदाहरण प्रस्तुत किया जा सके।

गीताकार इस बात को लेकर स्पष्ट थे कि कर्म मात्र में किसी न किसी वजह से दोष रह जाते हैं। धुआँ-रहित आग नहीं होती, या कम होती है। वैसे ही नितांत दोष रहित कर्म संभव नहीं है।

सहजं कर्मकौंतेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभाहि दोषेण धूमेवाग्निरिवावृता ।।

पर ऐसा कर्म आवश्यक हो तो जिसका चित्त निर्मल है, उसी के हाथों से होना चाहिए। अनिष्ट को टालने का यही एक रास्ता है।

निर्मल चित्त वाला कर्त्ता पहले यह देखेगा कि वह कर्म अनिवार्य है भी या नहीं। अनिवार्य होगा तभी वह हाथ में लेगा और उसमें उतनी ही खराबी आने देगा, जितनी अनिवार्य है।

कर्त्ता को फलासक्ति होगी ही नहीं, इसलिए वह पुन: पुन: कार्य करके या उसका स्मरण करके लालसा के जाल में लिप्त होगा ही नहीं। कर्म पूरा होते ही वह उसमें से मुक्त हो जाएगा।

ऐसे क्रिया-योग मे महाभारतकार की गहन आस्था है और इसका उदाहरण है व्यास जी का नियोग। पहले तो व्यास जी ने अनिच्छा प्रकट की। लेकिन जब उन्हें परिस्थिति और माता की आज्ञा वाजिब लगी तो उन्होंने वह कर्म इस तरह से किया कि उसे फिर कभी याद तक नहीं किया। एक अंधा, दूसरा पाडु और तीसरा विरक्त पुत्र जन्मा। सत्यवती के लिए एक भी पुत्र उपयोगी न था, फिर भी उन्होंने चौथी बार नियोग के लिए इन्कार कर दिया। कर्त्तव्य पूरा होते ही अलग हो गए। नारियल का सूखा गोला जिस तरह नारियल में रहते हुए भी अलग बन जाता है, वैसे ही संसार की तीव्र वासना वाला कर्म अनासक्त भाव से किया जा सकता है, ऐसा सर्वोत्तम उदाहरण महाभारतकार ने अपने जीवन के एक विरल प्रसंग के द्वारा प्रकट किया।

गीता ने आततायियों के साथ अनिवार्य लगे तो युद्ध करने की जो बात कही है, वह भी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर ही कही है।

गीता को युद्ध पसद नहीं, न युद्ध की महिमा करना। लेकिन अगर युद्ध करना अनिवार्य हो जाए तो कम से कम दोष द्वारा धर्मपूर्वक तथा समाज-धारणा के लिए कैसे किया जाए, इसकी कुंजी बताई है। इसी से योग की व्याख्या कर्म-कौशल की है। कर्म करने की कुशलता ऐसी हो कि कर्त्ता को उसका रोग न लगे, न दोष पैदा हो, फिर भी समाज को लाभ मिल जाए। संसार हमारी धारणा के अनुसार रचा नहीं गया है, न रचा जा सकता। ससार अर्थात् विषमता। विषमता में अभिवृद्धि किए बगैर तथा कर्त्ता को इसमें शामिल किए बगैर उपस्थित समस्याओं का समाधान करना पड़ता है।

इसीलिए जिसने जीवन भर अहिंसा की भरपूर उपासना की, उस उपासना में मृत्यु का भी स्वागत किया, ऐसे महात्मा को भी कश्मीर पर हुए पाकिस्तानी हमले के समय भारतीय फौज के जवानों का गुणगान करना पड़ा। पोलैंड पर हुए जर्मन आक्रमण के विरुद्ध लड़ने वाले पोलैंडवासियों का

बहादुरी-युक्त हिंसा का बचाव करते हुए उनको सकोच तक न हुआ। भले ही उन्होंने अनासक्ति-योग की प्रस्तावना मे लिखा हो, गीता के शब्दार्थ मे भले ही हिंसा निकलती हो, पर मेरा चालीस वर्षो का अनुभव कहता है कि 'अनासक्ति-पूर्वक हिसा करना सभव नही।'

गीता का सचमुच यही अभिप्राय होता तो श्रीकृष्ण ने अर्जुन से युद्ध भी न कराया होता अथवा स्वयं दुष्टों के संहार के लिए उद्यत न हुए होते।

अनासक्ति से आक्रमणात्मक युद्ध तो हो भी नही सकता, रक्षात्मक युद्ध करना भी मुश्किल है, अत्यंत कठिन है। लेकिन अगर समाज-धारणा के लिए आवश्यक हो तो ज्ञानवृत्ति वाले को वह युद्ध करना धर्म है और ऐसा युद्ध लिप्त हुए बगैर किया जाए, ऐसी गीता की स्पष्ट मान्यता है।

अगर न्यायाधीश दंड देता है या डाक्टर शल्यक्रिया करता है, तो उसे गीता-कल्पित युद्ध में आगे का कदम मानना चाहिए।

ऐसी अवस्था में पहुँचना या ऐसे मार्ग पर चलना आसान नही है। गीता ने आवश्यक ध्यान, आहार-विहार, अभ्यास तथा जीव-जगत, ईश्वर के बारे मे सम्यक् दृष्टि पर विविध अध्यायों में चर्चा की है। गीता मात्र सिद्धांत का प्रतिपादन करके ही नहीं रुक जाती वरन् उससे संबंधित क्रिया-योग का भी वर्णन करती है। इस तरह जिसने आदि से अंत तक की यात्रा की है, ऐसा सही मार्ग-दर्शक के पूर्ण आत्मविश्वास से वह कहती है कि इस मार्ग पर चलने वाला भले ही थोड़ा चले, पर वह बड़े भयों से बच जाता है।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

यही नहीं, अगर यात्रा अधबीच में ही रुक जाए, मार्ग के बीच में ही करतार का बुलावा आ जाए, तब भी बिन बरसे बादल की तरह इस मार्ग का प्रवासी उभयभ्रष्ट नही होता।

न हि कल्याण कृत कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।

अगर इस भव में सफलता नही मिले तो अगले जन्म में यह तमाम सम्पदा लेकर किसी शुभ सस्कारवान बुद्धिमान कुटुंब में जन्म लेकर वह अपना अगला मार्ग जारी रखता है।

संसार का परम सौभाग्य है कि गीता किसी सम्प्रदाय विशेष या अनुगम के लिए नहीं लिखी गई, न किसी काल या प्रदेश के निमित्त गाई

गई। इसकी विश्वव्यापी लोकप्रियता तथा आदर का कारण यह है कि यह वासना से मुक्ति हेतु संघर्ष करने वाले, धर्माश्रय तलाशने वाले, सबका कल्याण चाहने वाले प्रत्येक देश एवं काल के मनुष्य के लिए है। सभी सम्प्रदायों से परे जो धर्म है, जिसे छापा-तिलक, पोशाक, मंदिर, मूर्ति, मंत्र, ग्रंथ, गुरु आदि से कोई लेना-देना नहीं, लेकिन जिसे हर जगह निवास करने वाले मनुष्य की चिंता है, ऐसी जड़ी-बूटी याकि अमृतवल्ली' है गीता, जो भगवान के श्रीमुख से गाई गई है तभी तो यह सब की माता है, पयस्विनी है।

रोम्या रोलां की महान औपन्यासिक कृति ज्यां क्रिस्तोफ का नायक क्रिस्तोफ एक बार जबरदस्त निराशा, उलझन और कर्माकर्म की अनिर्णयात्मक दशा में फँस गया था। कहीं कोई रास्ता नहीं दिखा। कोई दीपक नहीं दिखा। ऐसे समय में उसे एकाएक गीता पढ़ने को मिली और उत्साह से नाचते हुए वह बोल उठा : 'यही वस्तु चाहिए थी मुझे।'

महाभारत की ही भाँति उसके मध्य में आई गीता का हेतु धर्म का अनुसंधान और धर्म-निश्चय करना है। अर्जुन की बेचैनी अनेक लोगों को मार डालने से होने वाली पाप की नहीं है, अपितु वह अपने ही हाथों कुलधर्म और जातिधर्म के नाश से आकुल-व्याकुल था। वह कहता है : 'स्वजनों का नाश करके मैं सुखी कैसे रह सकूँगा? भले ही वे लोग लोभ में अंधे होकर वंश-नाश और मित्र-द्रोह का पाप न देख सकें, पर हम तो जानते हैं कि जब सनातन कुल-'धर्म नष्ट होता है तो कुल को पाप घेर लेता है। कुल के नष्ट होने और अधर्म के बढ़ जाने से स्त्रियों में दोष पैदा होंगे, प्रजा वर्णसंकर हो जाएगी और वर्णसंकर संतानें पितरों को पिंड देने जाएंगी तो पितरों को नरक भोगना पड़ेगा, ऐसा हमने सुन रखा है। वे लोग ऐसा पाप क्यों कर रहे हैं? ओहो, राज्य-लोभ के कारण हम लोग कितना बड़ा पाप करने को तैयार हो गए?'

यह पूरा का पूरा वर्णन पढ़ते समय हमें ऐसा महसूस होगा कि अर्जुन को कुलधर्म, जातिधर्म के विविध कर्म-कांडों और रिवाजों के विलुप्त होने से कुल और जाति के पतन की चिंता और पाप की आशंका ने घेर लिया था।

व्यापक और सांसारिक मूल धर्म से पृथक् यह एक लौकिक सामाजिक नीति-धर्म था।

किसी भी समाज में और विशेष रूप से प्राथमिक समाज में रक्त संबध सघन रहता है। सब के सब इसी सबध से जुड़े रहते हैं। इस सबध से जुड़े सब लोगों के संगठन, सस्कार और एकता वालो के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए आवश्यक नियमों का अत्यत महत्त्व माना जाता है। वे प्राथमिक अवस्था में मनुष्य की पहली और आखिरी वफादारी अपनी टोली को ही देते हैं। इस नियम को भग करने वाले को समूह या कुल मृत्यु-दड ही देता था। उसकी टोली या जाति की स्त्री को अगर कोई हर लेता, उनके मुखियाओं का अपमान होता, टोली या जाति की जमीन को दूसरे लोग छीन लेते, उनकी जाति के किसी सदस्य की हत्या हो जाती, तो ऐसे तमाम अवसरों पर मनुष्य को टोली या जाति के साथ ही रहना पड़ता था। यह नहीं पूछा जाता था कि हत्या किस कारण से हुई थी, स्त्री को भगा कर ले जाया गया था या वह अपनी मरजी से गई थी। उनके न्यायान्याय या धर्माधर्म के बारे में किसी को भी स्वतंत्र-मत या स्वतत्र मार्ग अपनाने का अधिकार न था। उन जगली, अर्द्धजंगली अवस्था में जीने वाली टोलियों अथवा जातियों के लिए अनिश्चितता के उस युग में यही जरूरी रिवाज था। अतः ऐसे रिवाजों या नियमों को कुल-धर्म का नाम देकर एक तरह की पवित्रता प्रदान की जाती थी। ऐसे में टोली या जाति से बाहर अगर कोई स्त्री विवाह करती तो वर्णसंकर प्रजा पैदा होगी—यह भी उसी रिवाज का एक भाग था। आज के राष्ट्र धर्म में भी इनमें से कई संस्कार थोड़े रूपांतरित होकर जी रहे हैं, पर उस समय तो वे संस्कार आज की अपेक्षा बलवत्तर—अत्यधिक रोगोत्पादक होते ही।

श्रीकृष्ण ऐसे संकुचित कुलधर्म या समूह परंपरा के निम्न स्तर के धर्मों और परिवर्तित संसार में उपजने वाले उच्च स्तर के धर्मों के बीच फर्क करने वाले, और आवश्यकता पड़ने पर पुरानी परम्पराओं को तोड़ डालने वाले युग पुरुष थे। उनका चिंतन अंतिम स्वरूप में स्थल-काल की सीमाओं को लांघकर असीम आत्म-सत्ता के प्रकाश में विचरण करने वाला था।

उन्होंने स्वयं इस आत्मसत्ता के प्रकाश को अवरुद्ध करने वाली दीवारें तोड़ी थी। कुब्जा को अपने स्पर्श से सुंदरी बनाने का भागवत का रूपक इसका उदाहरण है। पर अपने सखा को इन दीवारो मे घिरा किंकर्त्तव्य विमूढ़ देखकर उनके हृदय में आनंद और प्रेम उभर आया। निसकोच चाहे जितने और चाहे जैसे प्रश्न पूछने के लिए उसे प्रेरित करके अंत में उन्होंने

जो कहा, उसे देखना चाहिए :

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज।
अह त्वा सर्व पापेभ्यो. मोक्षयिष्यामि मा शुच ।।

हे अर्जुन! तू अपने जातिधर्म, कुलधर्म, वर्णधर्म आदि तमाम धर्मों की चिंता छोड़कर मेरी शरण में आ जा, मैं तुझे इनके त्याग से पैदा होने वाले तमाम पापों से मुक्त कर दूँगा। व्यर्थ की चिंता न कर।

आरभ में कुलनाश, वर्णसंकरता, लुप्त-पिड होने पर नरक मिलने आदि की जो चिंताएँ अर्जुन ने व्यक्त की थी, उनको लक्ष्य करते हुए श्रीकृष्ण ने उसे आश्वासन दिया कि इन सब से ऊँचा धर्म तो मुझे जानना है। जान लेने के बाद 'मम-मय' बनने का प्रयत्न करो और अंत में 'मम-मय' बन जाओ।

इस उच्च धर्म-मार्ग में तू आ जा, तेरा कोई अनिष्ट नहीं होगा, इस बात का मैं जिम्मा लेता हूँ।

आगे दूसरे अध्याय में तो ऐसे धर्म को लक्ष्य में रखते हुए कहा भी है कि

यावानर्थ उद्पाने सर्वत संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।

इसमें भगवान का कहना यहाँ तक है कि जिसने मुझे जान लिया अथवा मेरे द्वारा सूचित कर्मयोग का जिसने आचरण किया है उनके लिए वेदों का महत्त्व इतना अल्प है कि जितना सरोवर मिलने के बाद कुएँ का। और बाद में समग्र संसार के मूल में कौन बैठा है, यह समझाते हैं :

मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचाराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।

मेरी देखरेख के नीचे प्रकृति स्थावर और जंगम जाति को पैदा करती है।

मैं ही धूप देता हूँ, मैं ही वर्षा करता हूँ अथवा उसे रोके रखता हूँ। मैं ही अमरता हूँ, मै ही मृत्यु। मैं ही सत् हूँ और मैं ही असत्।

. गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवास शरणं सुहृत्।
प्रभव प्रलय स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।

मैं सबके हृदय में विद्यमान हूँ।

ममैवाशो जीवलोके जीवभूत सनातन।
मन:षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।

जीव मेरा ही सनातन अश है। मेरा ही यह सनातन अश लोक में जीव बनकर प्रकृति में विद्यमान पाँच इन्द्रियों और मन को खींचता है।

अर्जुन, ऐसा मैं, जिसे त्रिलोक मे कुछ भी प्राप्त करना शेष नही, भी सतत कर्म करता हूँ, क्योंकि अनथक भाव से मैं काम न करूँ तो प्रजा में अव्यवस्था छा जाए और मुझे उनका नाश करना पड़े।

स्वयं सदैव प्रवृत्तिमान है हम और सदैव शांत निर्लेप हैं, स्वय अविनाशी अकर्त्ता हैं।

ये सारे काम करते हुए भी 'मुझे कर्म छू तक नही जाता, न मुझे फल की लालसा रहती। इस तरह जो मुझे जानते हैं वे कर्म से नहीं बँधते।'

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।

इसी तरह देख-समझ कर पूववर्ती मुमुक्षुओं ने इसी भाँति कर्म किया है।

तू भी इसी भाँति काम कर।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।

कर्ता के रूप मे अपना धर्म तू स्वयं तय कर, क्योंकि मेरे द्वारा प्रेरित प्रकृति ही यह सब करती है और करती रहेगी। मात्र तू मेरा ही अंश है अत तुझे भी मेरी तरह इससे निर्लेप रहने की शक्ति मिली हुई है, इसलिए तुझे इनके वश मे जाने की जरूरत नहीं है।

मै संसार का पिता हूँ, प्रकृति माता है अत: प्रकृति के नियमो से देहधारियों को बिल्कुल परे रह पाना संभव नहीं। लेकिन माता भी पिता का अविच्छिन्न भाग है, वैसे ही प्रकृति भी मेरा भाग है और तू भी मेरा ही वारिस है। अत मेरी तरह निर्लेप रहते हुए तू स्वभाव-नियत कर्म कर। सामने आए युद्ध को टालने की कोशिश करने के बावजूद जो टल नहीं सका, उस युद्ध को छोड़ देने से तेरी प्रकृति तो बदल नहीं जाएगी?

प्रकृति का स्थायी रूप से निषेध नहीं होता। उसकी भी भक्ति
श करके भगवान के दर्शन किए जाने चाहिए। ऐसी मार्मिक
की।

विधि, प्रकृति ने हमारा जो स्वभाव सृजित किया है,
पोषित करने वाले कार्य, प्रकृति के मालिक की भेंट
गुमाश्ते की तरह करनी चाहिए। संसार उसका
प्रकट रूप है। और कुछ नहीं। अतः अंततः उसके
हमें जीना है।

. सौंदर्य के भंडार हैं। उसकी संतति को भी इसे
को शोभित करते हुए पिता के राज्य
संबंधित गुणों का आचरण और संशोधन
।

, गिरे-पड़े बिना नहीं होता, ईश्वर की भक्ति
होता ही नहीं। इसलिए जो भक्तिवान नहीं,
जरूरत नहीं। यहां बुद्धि का निषेध नहीं है। एक
बुद्धि का स्मरण किया है।

गुण विकास करके अहंभाव को मिटाता
काम की नहीं है, पर विशुद्ध-बुद्धि की तो बहुत
-बुद्धि अर्थात् सत्य, शिव, सौंदर्य में आखिरी
साथ तलाशता है वही भक्त या योगी है।

आश्रय पर रहते हुए तथा भक्ति-युक्त कर्म करते
किया जाए तब भी बड़े भय से बचा जा सकता है।
हम जैसे दुबले भक्तों को दिया है।

ऐसा मानते हैं कि श्रेयार्थी संसार के
है। उसमें फंसने-भटकने की भूल उससे हो
को जानता है, इसलिए उसने वचन दिया है
इसका थोड़ा सेवन कर। वह तुझे मुक्ति के

अज्ञान, काम-क्लेश, अकीर्ति अथवा भय के कारण से जो कर्म छोड़ता है, वह तो नए बंधन में ही पडता है, क्योंकि वह भी एक प्रकार की आसक्ति ही है। तुम जो जाति-धर्म या कुल-धर्म की बात करते हुए युद्ध छोडने की बात कर रहे हो, यह मोह है। जहाँ मोह है, वहाँ बंधन है। स्वजन हो या पराया आदमी, तुम्हारा धर्म तुम्हारे सामने आए हुए कर्म को, जो स्वभाव-नियत है, मुझे नजर के समक्ष रखते हुए करना है। उससे तुमको या दूसरों को सुख होता है या दुःख, यह तुझे देखने की जरूरत नहीं है। तुम स्वजनों को मारने के दुःख से जो पीछे हट रहे हो, यह तुम्हारा मोह का भाव है। क्या तुम्हारा वह मोह समाप्त हो गया?

कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।।

भगवान भी अंत में संमोह शब्द का प्रयोग करते हैं और अर्जुन भी अपने उत्तर में मोह शब्द का प्रयोग करता है :

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव।।

हे अच्युत! अर्थात् जो कभी अस्थिर नहीं होते, तुम्हारी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, स्मृति लौट आई है और मैं स्थिर हो गया हूँ।

अर्जुन का मोह था अपनी जाति या कुल के लोगों को मारने से पैदा परिणामों के पाप से संन्यास। कुल के लोगों को मारने से पाप होता है क्योंकि उससे कुल-धर्म नष्ट होता है।

भगवान ने उसे बताया कि इस संसार के बीज का मूल है सदैव सत्य-स्वरूप, प्रकृति के भी पति-धाता-भर्ता ईश्वर। ईश्वर की प्राप्ति भी प्रकृति की उपेक्षा करके नहीं की जा सकती। प्रकृति भी भगवान की सेविका है, ऐसा मानकर प्रकृति को भगवान की पूजा का साधन बनाया जाना चाहिए।

परमहंस देव ने प्रकृति की शक्ति का बहुत सही उदाहरण दिया था। राम, सीता, लक्ष्मण वन में एक पगडंडी पर चले जा रहे थे। सीता बीच में थी, इस कारण लक्ष्मण को राम दिखते नहीं थे। अतः लक्ष्मण बेचैन रहते थे। सीता इसे समझ कर कभी-कभी बीच में हट जाती थी और भगवान को देखने देती थी।

प्रकृति का स्थायी रूप से निषेध नहीं होता। उसकी भी भक्ति करके तथा उसे खुश करके भगवान के दर्शन किए जाने चाहिए। ऐसी मार्मिक सीख है परमहंस देव की।

पूजा की यह विधि, प्रकृति ने हमारा जो स्वभाव सृजित किया है, उस स्वभाव के रस को पोषित करने वाले कार्य, प्रकृति के मालिक की भेंट है—यही समझ कर उसके गुमाश्ते की तरह करनी चाहिए। ससार उसकी गद्दी है, उसकी महिमा का प्रकट रूप है। और कुछ नहीं। अत· अतत उसके कारिन्दे या सुपुत्र बनकर ही हमें जीना है।

भगवान सत्य, शिव, सौंदर्य के भडार है। उसकी संतति को भी इसे सहेजते हुए तथा पिता के उत्तराधिकार को शोभित करते हुए पिता के राज्य में प्रवेश करना है। और इससे सबंधित गुणो का आचरण और सशोधन करके ही गुणातीत होना है।

यह तत्काल नहीं होता, गिरे-पड़े बिना नहीं होता, ईश्वर की भक्ति के बिना तो यह कठिन सफर होता ही नहीं। इसलिए जो भक्तिवान नहीं, श्रद्धालु नहीं, उसे गीता की जरूरत नहीं। यहाँ बुद्धि का निषेध नहीं है। एक अंतिम श्लोक में भगवान ने बुद्धि का स्मरण किया है।

बुद्धया विशुद्धया।

विशुद्ध बुद्धि से सम्पन्न गुण विकास करके अहंभाव को मिटाता है। अशुद्ध बुद्धि इस मार्ग में काम की नहीं है, पर विशुद्ध-बुद्धि की तो बहुत उपयोगिता है। यह विशुद्ध-बुद्धि अर्थात् सत्य, शिव, सौंदर्य में आखिरी श्रद्धा। जो उसे तारतम्य के साथ तलाशता है वही भक्त या योगी है।

ऐसे बुद्धियोग के आश्रय पर रहते हुए तथा भक्ति-युक्त कर्म करते हुए अगर थोड़ा धर्माचरण किया जाए तब भी बड़े भय से बचा जा सकता है। भगवान ने ऐसा मार्मिक आश्वासन हम जैसे दुबले भक्तो को दिया है।

सर्वान्तिर्यामी भगवान ऐसा मानते है कि श्रेयार्थी संसार के वात्याचक्र से दु खी हो सकता है। उसमें फँसने-भटकने की भूल उससे हो सकती है। वह हमारी दुर्बलता को जानता है, इसलिए उसने वचन दिया है कि मै तुम्हें जो जड़ी-बूटी देता हूँ उसका थोड़ा सेवन कर। वह तुझे मुक्ति के मार्ग में ले जाएगी।

ऐसा श्रद्धालु ज्ञानदेव के जैसा ब्राह्मण हो, जनक जैसा राजा हो, तुलाधार जैसा व्यापारी हो, धर्मव्याध जैसा कसाई या दासी जीवन जैसा चमार हो सकता है। वह भगवाधारी हो, बिना भगवांधारी हो, संस्कृत का प्रकाड पडित हो या जिसे पूरी प्रकृत भी न आती हो ऐसा सवा भगत भी हो सकता है।

पर वह लोक-सग्रह बुद्धि से, फलाशा के बगैर, ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए नम्रभाव से स्वभाव-नियत कर्म करने वाला हो—यही एकमात्र शर्त भगवान ने सभी मुमुक्षुओं के लिए निर्धारित की है।

क्योंकि भगवान सभी स्थलों और सभी कालों मे सभी के लिए विद्यमान रहते हैं, इसलिए जो जहाँ खड़ा है, वहीं से शुरू करे। भागदौड़ करने की या आडंबर करने की जरूरत नही है। संसार छोड़ना नहीं है। श्रीकृष्ण को संसार अर्पित करके सांसारिक जाल को छिन्न-भिन्न करना है। इस क्रिया-योग के सामने शेष सब धर्म गौण हैं।

लाखों-करोड़ों आस्तिक हिन्दू इसी भाव से गीता को स्मरण करते आये हैं। इसका कारण यह है कि भगवान ने अपना ज्ञान स्त्रियों, शूद्रों, वैश्यों और जो वेद नहीं पढ सकते, जो नाक पकड़कर समाधि नहीं लगा सकते, जो यज्ञादि नहीं कर सकते, जो तप नहीं कर सकते, ऐसे अल्प, मगर जिज्ञासु प्राणियों के लिए प्रस्तुत किया है। अर्जुन तो निमित्त मात्र बना है। उस अमृत को पीने के लिए विद्वान और पंडित इसका रहस्य ज्ञात करेंगे, इसका अर्थ स्पष्ट करेंगे, पर सामान्य हिन्दू नर-नारी तो यही गायेंगे .

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाम कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रिय प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेशी जगन्निवास।।
अनन्याश्चितयन्तो मां ये जना पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।
अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि स.।।
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु. पापयोनय.।
स्त्रियो वेश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरू।
कौन्तये प्रति जानीहि न मे भक्त. प्रणश्यन्ति।।

मेरे भक्तों का नाश नहीं होगा, ऐसी भरोसे की वाणी सुनकर सभी हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए अंत में अर्जुन की तरह बोल उठते हैं

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।



मूल गुजराती प्राक्कथन का अनुवाद

महाभारत की चिरनूतनता का महिमा-गान

अपने जीवन-निर्माता स्व. नानाभाई भट्ट के अवदान से अनृण होने के संकेत स्वरूप श्री दर्शक ने 'महाभारत का मर्म' विषय पर नानाभाई भट्ट-स्मारक व्याख्यानमाला में जो तीन व्याख्यान दिये थे, आज जब वे पुस्तकाकार प्रकाशित हो रहे है तो उनके अग्रिम वाचन से मैंने जो प्रसन्नता अनुभव की, उसे व्यक्त करने हेतु यह प्राक्कथन लिख रहा हूँ। वैसे 'दर्शक' जैसे सुविख्यात और सूक्ष्मदर्शी सर्जक की कृति को किसी प्राक्कथन की कत्तई जरूरत नहीं है।

लेखक ने इन व्याख्यान-लेखों के केन्द्रीय विषय को निर्देशित करने वाले शीर्षक देने टाले हैं, मैं उसका औचित्य स्वीकार करता हूँ। कारण यह है कि ये तीनों मिलकर आधुनिक जागतिक परिस्थिति को लक्ष्य करते हुए महाभारत के जीवन रहस्य को उद्घाटित करते हैं। पुनरुक्तियों का जोखिम उठाकर भी व्याख्याता ने अपने श्रोता-समुदाय, और अब पाठक-समुदाय तक उस रहस्य को भक्त की नम्रता तथा अहोभाव के उत्साह से पहुँचाया है। वे महाभारत से और महाभारत के अंग-रूप भगवद् गीता से अपने वक्तव्य का समर्थन करने वाले आधार उद्धृत करते रहे हैं, पर मूल श्लोक का सीधा-सादा अनुवाद देने के बजाय उन्होंने उसके सार-तत्त्व को अपने वक्तव्य की बुनावट में प्रस्तुत करने की पद्धति स्वीकार की है, ताकि वैचारिक प्रवहमानता बनी रहे और मूल संस्कृत श्लोक इनके आस्वादन में अभिवृद्धि करे। यही नही, महाभारत का जीवन-संदेश आज भी कितना प्रासंगिक है, यह भी पता लगता है।

इन तमाम तथ्यो के बावजूद यदि मुझे इन तीनो व्याख्यानों के शीर्षक देने पड़ जाएँ तो पहले व्याख्यान को 'महाभारत का प्रयोजन' दूसरे को 'जीवन धर्म का विवेक' और तीसरे को 'भगवद्गीता का कर्म संदेश' नाम दूँगा। पर इस चीज का सिर्फ औपचारिक महत्त्व है। तीनों लेख मिलकर जीवन धर्म को स्पष्ट करते है और यही चीज महत्त्व है।

महाभारत के बारे मे गुजराती भाषा में फुटकर रचनाएं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं पर उनके सतही चिंतन की वजह से उनकी आलोचना बहुत कम हुई है। इस लघु पुस्तिका का साहित्य मे मूल्यवान योगदान है।

व्याख्यानकर्त्ता ने महाभारत के गहन अध्येता होने का दावा किये बगैर या कि शास्त्रीय आलोचना की कवायद किये बगैर महाभारत के उद्देश्य, इस महाकाव्य की रचना के प्रति उनके दृष्टिकोण तथा आधुनिक संदर्भ में इसकी उपादेयता की खोजबीन करनी चाही है। महाभारत के कर्तृत्व, उसके रचनाकाल, उसके प्रामाणिक व क्षेपक अंशों तथा महाभारत की ऐतिहासिकता आदि विषयों पर विद्वानों ने पर्याप्त चर्चा की है, पर हमारे लेखक की इन बातों में अधिक रुचि नहीं है। पेड गिनने की बजाय आम खाने में इनकी अधिक रुचि है, इसीलिए मानो बात को संक्षिप्त करने के लिए उन्होंने लिखा है कि महाभारत दो-एक हजार वर्षों पूर्व लिखा होना चाहिए या वेदव्यास इसके रचयिता हैं या यह काव्य है और वेदव्यास की साक्षी के कारण इतिहास भी है। संभव-असंभव की खिचखिच में पड़े बिना उन्होंने वेदव्यास को कुरुवंश की पाँच पीढियों का द्रष्टा मान लिया तथा महाभारत के युद्ध में शरीक कौरव-पांडव दोनो राज परिवारों के पूर्वज के नाते उनके द्वारा वर्णित अनुभवों की प्रामाणिकता को भी स्वीकार कर लिया। पर जिनके पास अपना निजी सर्जनानुभव है, ऐसे हमारे लेखक का न यह भोलापन है, न अंधविश्वास। वेदव्यास तो इसको इतिहास कहते है, इतिहास-प्रदीप कहते हैं, महाभारत युद्ध के बाद तीन वर्षों की अवधि में रचा हुआ ग्रंथ कहते हैं, जबकि हमारे 'दर्शक' यह जानते हैं और लिखते है कि यह एक महाकवि द्वारा काव्यात्मक रीति से प्रज्वलित इतिहास-प्रदीप है। इतना कहने के बाद ऐतिहासिकता और प्रमाण के झंझट में पड़ने की जरूरत ही नहीं रहती।

महाभारत के रचयिता वेदव्यास हों या कोई अन्य हों, परन्तु सदियों तक इस ग्रंथ ने करोड़ों लोगों को आकृष्ट किये रखने की सामर्थ्य प्रदर्शित की है, इसमें किसी को संदेह नहीं है। 'दर्शक' की दृष्टि इसी केन्द्रीय बिन्दु पर टिकी है। महाभारत में ऐसा क्या है कि देश-काल की सीमाओं को लाँघ कर युग-युगों से इसने मनुष्य-समुदाय को आकर्षित कर रखा है? सचमुच इसमें ऐसा कुछ है कि जो सनातन है, नित्य-नूतन है तथा बदलते हुए संदर्भों में भी जो बासी अथवा अनुपयोगी नहीं होता। कृति है अतः कर्त्ता तो होगा ही। सुविधा के लिए अथवा आंतरिक प्रमाणों का अनुसरण करते

हुए भले ही वेदव्यास नाम दे दे, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। मुद्दे की बात यह है कि तत्कालीन संस्कृति के विशाल पट को तथा किसी भी काल के जीवन की समग्रता को ग्रहण करने वाले महाकवि का द्रष्टा होने का अधिकार बहुत बड़ा है।

यह अधिकार जीवन और उसे धारण करने वाले धर्म की गहन और व्यापक सूझ से तथा असाधारण शब्द-सामर्थ्य से प्रकट होता है। महाभारत में फकत धर्म-चर्चा ही होती तो यह शुष्क बन जाता या अकेले जीवन-व्यवहारों का ही आलेखन होता तो यह कल्पित कथा बन जाती। पर उसके अदर जीवन और धर्म ओतप्रोत है; यही नहीं, महाभारत में समाहित भगवद् गीता में समत्त्व दृष्टि का जो संदेश है, उसे महाभारत ने जीवन में पचाया है। उनकी समता व करुणा असीम है। उन्हें जीवन के शुभाशुभ सभी कर्मो के प्रति सहानुकम्पा है। यही तो महाभारत के आकर्षण का मूल-स्रोत है। दर्शक की दृष्टि ने इसे बहुत सही पकड़ा है। उनके व्याख्यान इसी केन्द्रीय विषय-वस्तु का भाष्य बन गए हैं। तभी मैंने ऊपर लिखा है कि तीनों व्याख्यान मिलकर इसी एक विषय का ग्रंथ बन गया है।

महाभारत का अपना समय-संदर्भ अवश्य है। उससे वह छूट नहीं सकता। रचना-समय की भौतिक स्थितियाँ, भौगोलिक संदर्भ, सांस्कृतिक मूल्य, व्यवहार, परपराएँ, मान्यताएँ, श्रद्धाएँ, आज की वैज्ञानिक युग की बुद्धि में न उतरने वाले मिथक—ये सभी महाभारत से लिपटे-सटे है। इनका सार्वकालिक संदेश समझने के लिए इन तमाम तात्कालिक सरोकारों को परे करना पड़ता है। रहस्य की प्रामाणिकता अगर घटनाओ की प्रामाणिकता पर निर्भर होती तो महाभारत में प्रचुर-पुष्कल असंभव-दोप, विरोधाभास तथा अतिशयोक्तियाँ सामने टकरा जाती, पर घटना को यदि रहस्य को टाँगने की एक खूँटी मान लेते है तो सभी बाधाएँ टल जाती हैं। हमें यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि विश्व के सभी देशों में, उनकी प्राचीन कथाओ में यही सब हुआ है।

आमने-सामने आकर खड़ी हुई, लड़ने को उद्यत दो सेनाओं के बीच अर्जुन का रथ आकर खड़ा हुआ तथा संभावित स्वजन हत्या के विषाद से ग्रसित अर्जुन को श्रीकृष्ण ने गीता सुनाई। महाभारतकार की इस प्रस्तुति की सोद्देश्यता को प्रकट करने के लिए अनेक तर्क दिये गए। किन्हीं ने गीता को क्षेपक कहा, किन्हीं ने मनुष्य के मन में होने वाले संग्राम का रूपक माना,

किसी ने इसे आत्मा-परमात्मा का संभाषण माना तो किसी ने काव्य माना। इस तरह विविध प्रकार से इस प्रसंग की मूल्यवत्ता आँकने का प्रयास किया गया। भारतीय दर्शनों व निगूढ धर्मानुभवों को मनोविज्ञान की दृष्टि से देखने वाले एक अमेरिकी मित्र ने इस घटना की विलक्षण व्याख्या करते हुए मुझे बताया कि क्षण भर के लिए युद्ध तक ले जाने वाली दारुण, विषाद-प्रेरक घटनाओं के दबाव तले, दुःस्वप्न तले अर्जुन निश्चेतन हो गया होगा तथा स्वप्नावस्था में जिस तरह समय का अतिक्रमण करते हुए अनेकानेक अनुभव होते हैं, उसी तरह उसके चित्त की भावभूमि पर यह संवाद उसी के व्यक्तित्व को दो भागों के बीच रचा होना चाहिए। कृष्णार्जुन संवाद को चैतसिक संभावनाओं के प्रदेश में ले जाने का यह बौद्धिक पुरुषार्थ तो निश्चय ही कुतूहल पैदा करता है, पर महाभारत के समय से इतने दूर पड़े हम लोगों को तो भगवद्गीता में समाहित तत्त्वदृष्टि की ही जरूरत है और यही स्वाभाविक है। अतः उपदेश का घटनामय निमित्त त्याग कर हमें तो स्वयं उपदेश पर ही ध्यान एकाग्र करना है। परम विस्मय की बात तो यह है कि मनुष्य जाति को विगत दो-अढ़ाई हजार वर्षों में अनेक सम-विषम अनुभव प्राप्त हुए, संसार में इतना बड़ा परिवर्तन आया, ज्ञान-विज्ञान ने इतनी सारी प्रगति की, फिर भी तमाम परिवर्तित स्थितियों के बावजूद भगवद्गीता का जीवन-संदेश वैसा का वैसा तरोताजा रहा है। यही जीवन-संदेश हमारे लेखक के ध्यान का विषय रहा है। विकास के विविध स्तरों पर खड़े मानव-स्वभाव के वैविध्य को समेटकर यह मूर्त हुआ है।

स्व. डॉ. सुकथनकर ने महाभारत की अपनी आलोचना में एक महत्त्व का विधान यह किया है कि महाभारत घटना-प्रधान नहीं, अपितु पात्र-प्रधान है। भले ही पात्रों का अति-चित्रण हुआ हो, क्योंकि अति-चित्रण के बगैर पात्रों के स्वभाव को उभार पाना मुश्किल हो जाता है, पर महाभारत को यह बताना है कि अच्छे लोगों की कमी से संसार में कैसे-कैसे उत्पात पैदा हो जाते हैं। साथ ही साथ यह भी बताना है कि दुष्ट लोगों को भी अपने उद्देश्यों के लिए शास्त्र-समर्थन की तथा सिद्धांत-कथन की कितनी जरूरत पड़ती है। मानव स्वभाव की विविधता, उसके विशेषताओं, अनुभूतियों तथा अन्तर्वेदनाओं को प्रकट करने वाले कितने सारे पात्रों के स्वभावों को महाभारत में वर्णित किया गया है कि देखकर हम चकित रह जाते हैं। महाभारत की मानव-सृष्टि की चरम तो गाती है ही, लेकिन उसके

क्रमशः

कालों के मनुष्यों को मनुष्यता का आदर्श भी उँगली के संकेत द्वारा बता दिया है। 'दर्शक' ने ठीक ही कहा है कि 'सातों तालों को तोड़ डालने वाली वाक्-प्रभा' से उसने मानवीय परिस्थितियों का आलेखन किया है।

पहले व्याख्यान मे धृतराष्ट्र के अंधत्व के विषय में 'दर्शक' ने मार्मिक उल्लेख किया है. 'स्थूल अधता दुविधाजनक होती है पर आतरिक अधता तो अकल्याणकारी ही है। धृतराष्ट्र की करुणता आंतरिक अधता को लेकर है। इसी कारण वह अहंकार के वृक्ष का मूल बन जाता है।' और तब फौरन अपने युग के लिए बोध-ग्रहण करते हुए चिंतक व्याख्याता कहते है 'अभिमान सामाजिक स्वरूप धारण कर सकता है। उस रूप में अभिमान जो विनाश कर सकता है, वह पारावार तुल्य होता है। वह कुलाभिमान, राष्ट्राभिमान, रग या जाति के अभिमान, सामूहिक शोषण, अत्याचार अथवा हत्याकांड के रूप में फैल सकता है।' इस प्रकार 'दर्शक' ने महाभारत से आधुनिक जीवन के लिए उपादेय अर्थग्रहण करने की पद्धति का सर्वत्र अनुसरण किया है।

श्री दर्शक कहीं-कही कथाकार वाली पुरानी शैली का आश्रय लेते हैं। एक लाक्षणिक वाक्य देखे· 'पर हड़प लिया है जिसने, जिसे वह कब्जा छोड़ना ही नहीं है, जो पुत्रस्नेह में अंधा है, वह (धृतराष्ट्र) नहीं माना।'

महाभारत के दुर्योधन और मिल्टन के 'पेरेडाइज लोस्ट' के शैतान, दोनों में काफी हद तक समानता देखी जा सकती है। एक आलोचक ने शैतान का रहस्य प्रकट करते हुए बताया कि उसमें इष्ट-अनिष्ट के प्रति उदासीनता, अपनी सत्ता जमाने के लिए स्थापित सत्ता को ललकारने की वृत्ति, प्रबल गतिशीलता व नेतृत्व के गुण है। ये सभी गुण महाभारत के दुर्योधन में भी हैं। वह दृढ़ निश्चय करके अपनी निजी सत्ता स्थापित करने की कुटिल नीति का आश्रय लेने में भी झिझक अनुभव नहीं करता। दुष्ट होने के अलावा वह धूर्त भी है। एक स्थल पर वह कहता है: 'मेरे मन में अनेक उपाय हैं। एक उपाय यह है कि किसी होशियार ब्राह्मण को नियुक्त करके कुन्ती और माद्री-पुत्रों के बीच फूट डलवा दी जाए; अथवा द्रुपद और उसके अमात्यों को बहुत-सा धन देकर उसे युधिष्ठिर के विरुद्ध कर दिया जाए. अथवा यों भी किया जा सकता है कि हमारे धन के लोभ से द्रुपद और उसके सलाहकार पांडवों को इस तरह समझा दें कि वे द्रुपद की राजधानी में ही रह

जाएँ, तब तो हस्तिनापुर से यह पाप ही कट जाएगा, अथवा उपाय में निपुण लोगों को इस काम में लगा दे कि वे पाडवो मे अंदर ही अंदर झगडे करवा दें। ऐसा करे कि द्रौपदी का मन उन लोगों पर से उठ जाए। उसे बहु-पतियो का मन रखना पड़ता है, इसलिए यह तरकीब आसान रहेगी। यो भी किया जा सकता है कि पांडवों का मन उससे उठ जाए। उनमे सबसे बलवान भीम है। किसी गुप्तचर की मार्फत उसका कॉटा निकलवाया जा सकता है। एक बार ऐसा हो जाए तो फिर पांडव राज्य माँगने की हिम्मत ही नहीं करेंगे। कदाच पांडव यहाँ आएँ तो सुंदर स्त्रियाँ उनको इस तरह लुभा ले कि वे द्रौपदी का नाम ही न लें। ऐसा ही किया जा सकता है कि उनको लाने के लिए कर्ण को भेजा जाए और रास्ते में ही मेरे लोग उन्हे मार डाले। मेरा तो ऐसा विचार है कि अच्छे या बुरे किसी भी तरीके से पाडवों को रोकना ही चाहिए।'

व्याख्यानकर्त्ता ने उचित ही लिखा है कि मानो यह उक्ति हम किसी ताजे प्रकरण के संदर्भ में पढ़ रहे हों। द्यूत और द्रौपदी वस्त्रहरण के समय दुर्योधन के ये लक्षण—अभिमान, निर्लज्जता, कुटिलता—अपनी हद तक पहुँचे हुए प्रतीत होते हैं। दुर्योधन का अभिमान ऐसा है कि जो दूसरों के स्वाभिमान का कत्तई लिहाज नहीं करता। पर अभिमानी की नजर से बस एक ही बात छूटती है—परमात्मा। श्रीकृष्ण, जो चैतन्य की व्यापकता के सूचक है, दुर्योधन की संकीर्ण, अभिमानी वृत्ति की गणना को गलत बताते हैं। यही तत्त्व दुर्योधन की अतिम पराजय का कारण है। 'यतो धर्मस्ततो जय' का भी रहस्य यही है। 'दर्शक' को इसी सदर्भ मे स्वाभाविक रीति से हिटलर का स्मरण हो आता है।

दुष्ट दुर्योधन के सामने खड़ा रहने वाला एक धर्म तत्त्व है सौजन्यमूर्ति युधिष्ठिर। 'प्रत्येक मनुष्य के अतर में चलने वाले सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, कृपणता-उदारता, वैर-क्षमा के समरागण का वह योद्धा है, अविचल योद्धा।' जब इस तरह 'दर्शक' कहते हैं तो महात्मा गांधी ने महाभारत को युद्ध के रूपक के बतौर जो ग्रहण किया है, उसका स्मरण हो आता है। अपमान व दुख से त्रस्त होकर नास्तिकता के किनारे खड़ी द्रौपदी को क्षण भर के लिए वह कायर लगता है, फिर भी वह अपने धर्म में अविचल है। पर उसके धैर्य में परुषता नहीं मार्दवता है। पं. जवाहरलाल को हरिजनों के लिए अलग मतदान के फैसले से सबंधित गाधीजी के अनशन की बात समझ मे नहीं आई। यह उदाहरण भी

व्याख्यानकर्ता के ध्यान से नहीं छूटा। पर महात्माजी की तरह युधिष्ठिर 'धर्मवणिक' नहीं है। महाभारतकार की दृष्टि कथा के माध्यम द्वारा धर्ममय जीवन की शोध की विषम-यात्रा, उसकी व्याख्या, मार्ग में आने वाले विघ्नों तथा आकस्मिक ईश्वरीय सहायता के सिद्धात को स्थापित करने की थी। इसीलिए कथा का तंतु और कथा-मर्म का ततु साथ-साथ बुनते जाएं, ऐसी उनकी योजना थी। उन्होंने युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण जैसे पात्रों के माध्यम से अपनी सम्पूर्ण धर्मदृष्टि को उभारा है। अत श्रीकृष्ण पांडवों के पक्ष में होंगे यह योजना सांकेतिक है।

श्री दर्शक का एक प्रतिपादन चितनीय है। दूसरे व्याख्यान मे उन्होंने उचित ही कहा है कि महाभारतकार के मतानुसार धर्म मोक्ष का साधन है तथा इस अर्थ मे धर्म और मोक्ष एक नहीं। लेकिन मोक्षमार्ग की समग्र चर्चा महाभारत मे अधूरी है जिसकी परिपूर्ति के निमित्त श्रीमद् भागवत की रचना आगे चलकर वेदव्यास जी के द्वारा की गई। यह इनका विधान चिंतनीय है। कर्तृत्व का सवाल न उठायें तब भी यह बात चितनीय है।

प्रत्येक संस्कृति का अपना अभिगम और अभिनिवेश होता है, यह बात संस्कृति के चिंतक श्री दर्शक ने दूसरे व्याख्यान में प्रस्थापित करते हुए कहा है कि, 'ग्रीकों ने सौंदर्य पर, असीरियनों ने युद्ध पर, इजिप्शियनों ने देवतावाद पर, चीन ने संतुलित सामाजिक जीवन पर तो यूरोपियन संस्कृति ने बुद्धि का चरमोत्कर्ष करके प्रकृति पर साम्राज्य स्थापित करने पर बल दिया है।' यह बात इतिहास के अमुक समय-खंड को ध्यान में रखकर ही निर्वाह योग्य बन सकती है, हालांकि इसमें भी एक लक्षण का चुनाव अन्य लक्षणों को अलग हटा कर के ही किया गया है। फिर भी इसमें जो मुख्य गौण का विवेक है, वह हमारे ध्यान में रहना ही चाहिए। परन्तु दर्शक ने यथार्थ ही कहा है कि 'भारत की सस्कृति ने धर्म-शोधन पर ही अपना पुरुषार्थ प्रकट किया है.....वस्तु के क्षणिक तत्त्व से परे अमृत की शोध अभी कल तक इस देश की विशेषता रही है।' आचार्य आनंदशंकर ध्रुव का यह कथन कि 'धर्म की नाड़ी में प्रजा के प्राण टिके हुए हैं' इस संदर्भ मे याद आता है।

'दर्शक' का निम्न विधान देखिए :

'महाभारत ने विविध प्रकार के धर्मो का वर्णन किया है, समझाया है। कुलधर्म, जातिधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, स्त्रीधर्म, वर्णधर्म, स्वधर्म,

आश्रमधर्म आदि-आदि। मनुष्य को विविध प्रकार के कर्त्तव्य निभाने पड़ते हैं अत विविध धर्मो की चर्चा का होना स्वाभाविक है। मनुष्य पति है, पुत्र है, पिता है, नागरिक है, मालिक है, नौकर है। स्त्री पत्नी है, पुत्री है, माता है, परिवार में है, वैसे ही राष्ट्र में भी है। उसका एक शरीर है, वैसे ही आत्मा भी है, बुद्धि है, वैसे ही हृदय भी है। मनुष्य ढेला नहीं है कि जिसका एक ही गुण होता है।

इन सब विविधताओं मे खींचातानी का होना स्वाभाविक है। पुत्र के नाते अमुक करने का अधिकार और पति के नाते कुछ और करना पड़ जाता है। हृदय एक बात कहता है पर बुद्धि दूसरी बात कहती है; परिवार एक चीज माँगता है, तो देश दूसरी चीज माँगता है; वासना एक दूसरे ओर खींचती है तो विवेक दूसरी ओर खींचता है। ऐसा सभी ने अनुभव किया है और हमेशा अनुभव करेंगे। इस वैविध्यपूर्ण परिस्थिति में—कभी स्पष्ट तो कभी अस्पष्ट परिस्थिति में—विविध धर्म रहेंगे। लेकिन जब इनमें खींचातानी हो तो किस गज से परिस्थिति को मापा जाए या किसकी आज्ञा, किसकी शरण मनुष्य को बचा सकती है?'

उपर्युक्त विधान देखने पर हमे विश्वास आएगा कि महाभारत का अर्थग्रहण करने के निमित्त से हमें 'दर्शक' की मूल्य सृष्टि का अवदान प्राप्त हुआ है, जिसे महाभारत का अर्थ-विस्तार करके तथा आधुनिक संदर्भ में घटित करके उन्होंने पूर्ण बनाया है। लेकिन महत्त्व की बात यह है कि वह महाभारतकार की दृष्टि की भी सतत अविरोधी रही है।

हमने ऊपर देखा कि श्रीकृष्ण व्यापक चैतन्य के संकेत स्वरूप हैं। धर्म इस चैतन्य से उद्भूत होता है अर्थात् कृष्ण धर्म का अनुसरण करते हैं, यों नहीं वरन् धर्म कृष्ण का अनुसरण करता है, जब 'दर्शक' यों कहते हैं तो वे यह बताना चाहते हैं कि धर्मभाव भी निरंतर विकासशील प्रक्रिया है। पर धर्म का मर्म ईश्वर संबंधी निःसीम श्रद्धा है। इस श्रद्धा के बिना सत्य की समझ भी फलदायी नहीं हो सकती। ईश्वर-श्रद्धा का निरूपण करते हुए 'दर्शक' भी भक्त के श्रेष्ठ लक्षण प्रकट करते प्रतीत होते है।

कौरव इतने कुटिल थे, फिर भी भीष्म जैसे धैर्यशाली व्यक्ति ने उनके पक्ष को क्यों नहीं त्यागा? 'दर्शक' कहते हैं कि इसमें हृदय की दुर्बलता की अपेक्षा समझ का फेर निर्णायक रहा है। वे लाक्षणिक रीति से कहते हैं कि

आज की परिभाषा मे कहे तो भीष्म संविधानवादी थे।' जबकि धर्म सूक्ष्म तत्त्व होने के कारण संविधान का अतिक्रमण कर सकता था। संविधान-प्रियता स्थिति है और क्रांति गति है। 'दर्शक' के मतानुसार श्रीकृष्ण क्रांतिकारी थे।

'नियम होने चाहिए और उनके परिपालन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी कालग्रस्त या जड़ हो चुके धर्मों की अनिवार्यता को चुनौती देने की स्वतत्र बुद्धि उन्होंने विकसित की थी। विशेष रूप मे जब लोग अधर्म के लिए धर्म-वाक्यों का आश्रय लेने का दुष्ट-कार्य करते हैं तब उनकी यह शक्ति अपनी सोलह कलाओं के साथ खिल उठती थी। ऐसे आपात-प्रसग पर वे यह मूलभूत प्रश्न खड़ा कर सकते थे कि पगड़ी सिर के लिए है या सिर पगड़ी के लिए? बाइबल की भाषा में कहें तो साब्बाथ (अवकाश का दिन) मनुष्य के लिए है या मनुष्य साब्बाथ के लिए? (बाइबल : मार्क 2 · 27)। अलबत्ता, ऐसा प्रश्न वही पूछ सकता है, जिसका चित्त मुक्त है .हर कोई नहीं पूछ सकता। मुक्त अर्थात् शास्त्र अथवा पद्धति से नहीं, वरन् अतत जिसके भीतर तेरे-मेरे का अपने-पराये का फर्क नहीं हो। जिसकी ममता संसार के सभी पदार्थों से ही नहीं अपितु स्वय अपने व्यक्तित्व से भी छूट जाए। जिस तरह नारियल का गोला नारियल में रहते हुए भी अलग है, उसी तरह जो स्वय अपने व्यक्तित्व से भी अलग हो सके, वही उचित रीति से उचित मात्रा में पूछ सकता है। उसी में ऐसी सूक्ष्म और धारदार दृष्टि होती है। महाभारतकार के दर्शनानुसार श्रीकृष्ण ऐसे श्रेष्ठ, अलिप्त अथवा सर्वमय पुरुष थे।'

महाभारत के विविध पात्रों की—श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन, दुर्योधन, भीष्म, कर्ण, द्रौपदी—जो मनुष्य की विविध गति-स्थिति के निर्देशक थे, महाभारत से प्रसंग ले-लेकर की गई पात्र-चर्चा इन व्याख्यानों की बहुमूल्य परिणति है। यहाँ प्रत्येक पात्र को लेकर उसकी लाक्षणिकताओ और व्यापक धर्म के प्रकाश में प्रदर्शित की गई सिद्धियों व मर्यादाओं का उल्लेख करने की गुंजाइश नहीं है, पर श्री दर्शक ने प्रसंगो और पात्रो की मीमांसा की है, वह अनेक आनुषंगी मूल्यों पर भी प्रकाश डालती है।

'दर्शक' श्रद्धावान हैं तथा शुभ के उपासक हैं। महाभारतकार ने अनिष्ट का भी जीवन की एक वास्तविकता के रूप में चित्रण किया है लेकिन इस वास्तविकता को स्वीकार करते हुए भी 'दर्शक' के दो रुझान बहुत स्पष्ट

है। एक तो यह कि जीवन मे जो शुभ है वही निर्णायक बना रहना चाहिए। और दूसरा यह कि धर्म व्यक्तिगत नहीं, अपितु समष्टिगत होता है।

'धर्म को जो जानना चाहता है उसके लिए सब के प्रति मृदुभाव का होना एक आधारभूत गुण है. ...यह मृदुभाव उसके हृदय में नहीं हो सकता, जिसमें अहंकार भरा हुआ है।'

तीसरे व्याख्यान का केन्द्रीय विषय है श्रीमद् भगवद्गीता। युद्ध के बीच गीता? गाँधीजी महाभारत के युद्ध को दैवी और आसुरी सम्पत्ति के बीच का संग्राम मानते थे और इसी संदर्भ में भगवद्गीता को देखते थे। अनेक विद्वान इसे काव्य मानते हैं तो कई क्षेपक मानते हैं। परन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भगवद्गीता में काल से प्राप्त धर्म दृष्टि और महाभारत मे निरूपित धर्म दृष्टि परस्पर अविरोधी है। यह गीता का विशिष्ट मूल्य है। 'दर्शक' भी महाभारत के पात्रों को रूपक नहीं वरन् हाड-मास के जीव मानते हैं। बात भी यही है। लेकिन गुणोत्कर्ष में अथवा कौटिल्य में इनका आदर्शीकरण हुआ है, यह स्पष्ट है। महाभारत की तमाम घटनाओं मे इतिहास का सत्य है, ऐसा अर्थ घटित करना अधिक यथार्थ होगा। हमारे लिए जो प्रस्तुत है, वह तथ्य नहीं, अपितु गुहा-निहित सत्य का जो उद्घोष इसमें हुआ है, वह है।

'दर्शक' ने लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी की गीता विषयक दृष्टि का समन्वय करते हुए लिखा है कि 'कर्म की वृत्ति जब शुद्ध ज्ञान के चरणों मे विराजमान होती है तभी वह सार्थक होती है। जो कर्म ज्ञान के चरणों में नहीं बैठता, जो उद्यम अविनाशी के पास नहीं रहता, वह कर्म और वह उद्यम मशाल या ध्वज निशान रहित मत्त जीवन की अंधयात्रा है।' (पृ. 92)

'इन्द्रियों को सहज तथा समाज को टिके रखने के लिए आवश्यक कर्म हो सकते है, होने चाहिए। फल की आकांक्षा के बगैर थोकबंद काम करने वाला, कर्म करते हुए भी संन्यासी है। संन्यासी और कर्मयोगी के बीच कोई फर्क नहीं है।' (पृ. 98)

'मोक्ष के लिए संन्यास अनिवार्य नहीं है। निर्लेपता और अहंकार शून्यता अनिवार्य है। पर कर्म-त्याग अनिवार्य नहीं।' (पृ.100)

राष्ट्र की वर्तमान समस्या को उजागर करने वाली एक औपन्यासिक कृति : कुरुक्षेत्र

मनुभाई पंचोळी 'दर्शक' गुजरात के शीलभद्र प्रज्ञा पुरुष और सरस्वती के उपासक हैं। शिक्षा, साहित्य, राजनीति और समाजशास्त्र आदि विविध क्षेत्रों में की गई सेवा की वजह से इनके पास जीवन के बहुविध अनुभवों की समृद्ध पूँजी है। औपचारिक उच्च शिक्षण के प्रभाव में इन्हें अपने में जो कमी महसूस हुई, उसकी पूर्ति इन्होंने अपने सघन वाचन और व्यापक प्रवासों के द्वारा की। इतिहास, राजनीति शास्त्र और साहित्य की सुविख्यात कृतियाँ तथा ग्रीस, रोम और अपने देश की संस्कृति इनकी रुचि, शौक और अध्ययन के मुख्य विषय रहे हैं। अपनी इसी सम्पत्ति के आधार पर वे सर्जनात्मक तथा चिंतनात्मक कृतियों के माध्यम से अपने जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त करते रहे हैं।

इनके दर्शन को व्यक्त करने वाली इनकी औपन्यासिक कृतियों में एक बात विशेष रूप से प्रकट होती रही है कि मनुष्य तत्त्वतः शांति और अहिंसा का पुरस्कर्ता है। वह यह जानता है कि युद्ध कितनी जघन्य घटना होती है, फिर भी वह उसके बिना रह नहीं पाता। मनुष्य जाति के लिए युद्ध एक अनिवार्य अभिशाप है। मानव-जीवन ऐसे युद्ध और हिंसा से ग्रसित होने के बाद भी मनुष्य जीवन का परित्याग नहीं कर देता क्योंकि इनके प्रतिरोधक बराबरी के बल जीवन में विद्यमान रहते हैं · प्रेम और धर्म। 'दर्शक्' ने अपने दो मुख्य उपन्यासों 'दीप निर्वाण' और 'झेर तो पीधां छे जाणी-जाणी' में युद्ध की संवेदनाएँ ग्रहण की थी और उनमें युद्ध के खिलाफ बराबरी के परिबल के रूप में प्रेम के विचार को प्रस्तुत किया था। परन्तु युद्ध की हिंसकता के विरुद्ध प्रेम तत्त्व के अलावा धर्म तत्त्व किस तरह एक बराबरी की ताकत बन सकता है, इस विचार को प्रकट करने के लिए उन्होंने जो उपन्यास लिखा है, वह है 'कुरुक्षेत्र'। हाल ही मे इस कृति को गुजरात का गौरवपूर्ण 'गोवर्धनराम त्रिपाठी एवार्ड' और राष्ट्र का सर्वोच्च 'सरस्वती सम्मान एवार्ड' मिला है। ऐसे दो बड़े पुरस्कारों से विभूषित इस उपन्यास से

'दर्शक' भी वर्षों से महाभारत और कृष्णचरित से आकर्षित होते रहे है। इसी कारण से उन्होंने 'परित्राण' जैसा नाटक और 'महाभारत का मर्म' नामक समीक्षात्मक कृति इस विषय को लक्ष्य मे रखते हुए हमें दी थी। अब इसी शृंखला में महाभारत और श्रीकृष्ण चरित दोनों को जोड़कर उन्होंने 'कुरुक्षेत्र' नामक उपन्यास दिया है। श्रीकृष्ण जैसे सर्वोच्च शिखर सदृश व्यक्तित्व पर उपन्यास लिखकर किसी सामयिक समस्या पर चिंतन प्रकट करना किसी भी सर्जक के लिए बहुत बड़ी चुनौती होती है। 'दर्शक' ने अपने इस उपन्यास में इस चुनौती को उठाया है।

सन् 1991 में प्रकाशित यह उपन्यास इस साहित्यिक विधा में छह दशकों की उनकी लेखन-प्रवृत्ति का एक प्रभावपूर्ण नवोन्मेष है। पहले भी उन्होंने हमें 'बंधन और मुक्ति', 'दीप निर्वाण', 'झेर तो पीधां छे जाणी-जाणी' तथा 'सोक्रेटीस' नामक उल्लेखनीय कृतियाँ प्रदान की थीं। पर इस उपन्यास में वे ऐतिहासिक काल खंड को लाँघकर पौराणिक काल में पहुँचे हैं। श्रीकृष्ण जैसे धर्मावतार के होते हुए कुरुक्षेत्र का महानाशकारी युद्ध क्यों लड़ा गया, इसके पीछे क्या-क्या कारण थे, इन तमाम तथ्यों को उजागर करते हुए राष्ट्र की समसामयिक शोचनीय परिस्थिति में इस बात द्वारा सार्थक प्रकाश डालने के लिए 'दर्शक' ने जिस चिंता और लगाव के साथ यह उपन्यास लिखा है, उसे देखते हुए यह उनका एक महान सृजन प्रतीत होता है।

डेमी साइज के 200 पृष्ठों में सघन लेसर टाइप सेटिंग में छपी तथा तेईस प्रकरणों में फैली इस कृति में तपती और तक्षक का प्रणय वृत्तांत, आर्य जाति और अनार्य जाति के बीच का संघर्ष वृत्तांत तथा युद्ध में संचालक और नियामक के रूप में भाग लेने वाले श्रीकृष्ण के कुरुक्षेत्र का युद्ध वृत्तांत समाहित हैं।

पांडव जब वनवास भोगने चले गए तब उनके राजपुरोहित धौम्य ऋषि स्वयं नगर में नहीं रह सकेंगे, ऐसा सोचकर आर्यजनों से दूर ओघवती नदी के किनारे अरण्य में रहते हुए नागों, किरातों और अनार्य जनों को विद्या-दान दे रहे थे। उनकी पुत्री तपती और नागराज चित्ररथ के पुत्र तक्षक का आश्रम में साथ-साथ पढ़ते-पढ़ते प्रेम हो गया, परन्तु एक नागयुवक के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने की बात से तपती के माता-पिता ने

आना-कानी की। तपती की माता सुवर्णा काशिराज की कन्या होते हुए भी धौम्य ऋषि के साथ प्रेमानुभाव से विवाह-बंधन में बँधी नारी थी, फिर भी वह पुत्री के प्रणयातुर चित्त को समझ नहीं पाई। धौम्य ऋषि आर्य-अनार्य जनों की एकता का आदर्श स्वीकारते थे, फिर भी वे आर्य पुत्री के अनार्य-युवक संग प्रणय-परिणय की बात सहजता से नहीं स्वीकार सके। प्रणय के प्रथम स्पर्श का वसंत खिलने से पहले ही तपती और तक्षक को जाति भेद और वर्ग वैषम्य की दहकती लुएँ छूने लगीं। सुवर्णा के द्वारा कड़वे और कटाक्षपूर्ण वचनों के द्वारा जब तक्षक को आश्रम से निकाल दिया गया तो उसने प्रतिशोध की आग से अत्यंत श्रमपूर्वक तैयार किए गए ऋषि के उपवन को जला दिया और युद्ध के लिए उद्यत कुरु बंधुओं में से कौरव-पक्ष में जा मिला। तब माता-पिता और प्रणयी के वाणी व्यवहार से आहत तपती को श्रीकृष्ण पुत्रीवत् स्नेह से अपने साथ ले गए और तक्षक के पास ले जाकर सुलहकर्त्ता के रूप में उसका उपयोग किया। उन्हीं के प्रयत्नों से नागराज चित्ररथ और तक्षक के दृष्टिकोण में परिवर्तन आ पाया। उन लोगों ने संकीर्ण स्वार्थ दृष्टि त्याग दी, कौरवों-पांडवों के बीच विद्यमान आचारगत और विचारगत अंतर को समझ लिया तया तदनुरूप युद्ध में अपनी भूमिका निभाई। इन सब को श्रीकृष्ण द्वारा चिंतामणि के उदाहरण से समझाये गए संख्यानुभव के कारण सिर्फ तपती को ही नहीं वरन् उसकी छोटी बहन माधवी को भी एक अन्य अनार्य युवक के संग उनके माता-पिता ने ब्याह दिया—इस तरह एक कथा-वृत्तांत विकसित हुआ।

उपन्यास में दूसरा वृत्तांत है आर्य जाति और नाग जाति का। पांडवों ने खांडव वन जला कर वहाँ रहने वाली नाग जाति को विस्थापित कर डाला था। उस दावानल में कितने ही नाग लोग भस्मीभूत हो गए थे। उसमे से बच कर निकलने वाला वासुकी इस घटना के मूल में जाति द्वेष का कारण समझ कर आर्यों-अनार्यों की एकता की बात करता रहता था। उसे इन दोनों के मिलन के सिवा इस समस्या का दूसरा कोई समाधान दिखाई नहीं देता था। नागराज चित्ररथ वासुकी का बहनोई था, लेकिन जब बहनोई के गले ही बात नहीं उतरी तो दूसरे के गले उतरती भी कैसे? वासुकी के विचारों में विश्वास करने वाली एक व्यक्ति थी, वह थी उसकी बहन, तक्षक की माता-चिंतामणि। तक्षक के लिए विद्याध्ययन हेतु धौम्य ऋषि के आश्रम में आ पाना चिंतामणि के आग्रह से ही संभव हुआ था। पिता चित्ररथ ने तो इस

प्रस्ताव का विरोध ही किया था, पर चिंतामणि के सामने उसकी एक न चली। चिंतामणि अपने पुत्र के व्यक्तित्व में नागों का स्वातंत्र्य और आर्यो का संयम––इन दोनों का मिचन करना चाहती थी। उसकी इच्छा थी कि नाग जाति सुधरे, संस्कारी बने। वह कहती थी· 'आर्य हाँ करें या ना, मेल-जोल करें या नही, पर तुम एक बनो, उद्यमी बनो।' पुत्र को आश्रम में भेजते समय उसने सीख दी थी - 'बेटा, गुरु को ही पिता और गुरु को ही माता मानना। वहीं है तमाम तीर्थ!' जबकि पिता के शब्द थे 'विद्या भले ही लेना, पर वीर्य को मत खोना। विद्या के बिना तो जी लोगे, पर स्वमान के बिना नहीं।' माता-पिता की अलग-अलग शिक्षा ने मानो उसके व्यक्तित्व के दो टुकड़े कर डाले थे। मात्र तक्षक की ही हालत ऐसी नहीं थी, अपितु आश्रम में आने वाले और न आने वाले सभी नाग युवकों की हालत ऐसी ही थी। वह समझ ही नहीं पाया कि नागों और आर्यों के प्राणलेवा संघर्ष में उसे कहाँ खड़ा रहना चाहिए। आश्रम में आने के बाद तक्षक को मुनि पत्नी के एक अपवाद को छोड़ कर कोई अन्य जाति द्रोह देखने में नहीं आया। तपती ने जब उसके प्रति प्रेम प्रकट किया तो उसे लगा कि उसकी माता का विश्वास सच्चा था। लेकिन जब उस पर आश्रम के कुलाचार को भंग करने का आक्षेप लगा कर कटाक्ष युक्त कटु वचनो के साथ मुनि-पत्नी ने आश्रम से निष्कासित कर दिया तो उसे पिता के वचन याद आ गए। स्वमान आहत होते ही उसकी रगों में दौड़ता नाग-रक्त खौल उठा। उसने आश्रम के उपवन को जला दिया। आश्रम छोड़ कर माँ के पास जाने की बजाय पिता के पास गया और शाबाशी व सलाह लेकर कौरव-पक्ष में मिलने की तमन्ना से कर्ण के पास पहुँचा। खांडव वन जलाने में, नाग-जाति को विस्थापित करने में तथा अपना अंगूठा कटा देने में पांडु पुत्र अर्जुन का ही हाथ मान कर एकलव्य और वनवासी अनार्य पांडवों और मुनि पत्नी सुवर्णा को सबक सिखाने के लिए कौरव पक्ष में जा मिले, पर श्रीकृष्ण-प्रेरित तपती की सफल समझाइश से वे इस फर्क को भली-भाँति समझ गए कि कौरवों और पांडवों के बीच का और अनार्य जाति का हित किसके दिल में अधिक है। तभी कौरवों के पक्ष में रहकर लड़ते हुए भी युद्ध मे ऐन वक्त पर विषाक्त तीर बदल कर उन्होंने परोक्ष रूप से पांडवों को जिताने की इच्छा से मदद की। इस तरह आर्यो-अनार्यो के संघर्ष का कथा-वृत्तांत विकसित हुआ है। दोनों कथा-वृत्तातो के द्वारा लेखक ने इस बात को मिथ्या प्रमाणित कर दिया कि आर्य लोग ऊँचे थे और नाग लोग नीचे थे।

तपती और तक्षक तो इस कथा के मुख्य पात्र हैं ही, परन्तु कथा मे इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण पात्र है श्रीकृष्ण। तेईस प्रकरणों में फैली कथा में इनका प्रवेश ठेठ सातवें प्रकरण के अंत में होता है, लेकिन बाद में तो वे सम्पूर्ण कथा पर ही छा जाते हैं। तक्षक के द्वारा जला कर उजाड़े गये वन-उपवन में उद्विग्न तपती और चिंतामणि को तथा पुत्री के निर्णय से और तक्षक के वचन-कर्म से आहत सुवर्णा को वे आश्वासन देते है। तक्षक ने सख्य की बेचैनी का एक सपना देखा था, इसी से आग लगाई थी। उसकी माता चिंतामणि पहाड़ों को लांघ कर कष्ट झेलती हुई नंगे पैरों धौम्य ऋषि के पास इसी सख्य की आतुरतावश चली आती थी। सख्यानुभव ही जीवन का अमृत है, यही मान कर चलने वाले श्रीकृष्ण आर्यो-अनार्यो के बीच मैत्री और मेलजोल ही चाहते थे। वे जानते थे कि कौरवों-पांडवों के अन्तर्कलह से अरण्यवासी अनार्यों को दूर रखने के लिए धौम्य ऋषि ने अरण्य में वह समयावधि बिताने तथा उनके बालकों को पढ़ाकर उद्यमी बनाने का काम हाथ में लिया था। उन्होंने परस्पर युद्ध के लिए तत्पर कुल-बंधुओं की वृत्ति-प्रवृत्ति से घटित होने वाले महासंहार की बात से चिंतित ऋषि को कुरुक्षेत्र युद्ध के बारे में बड़ी ही स्पष्टता से अपनी दृष्टि समझाई कि इस युद्ध के मूल में एक दुष्ट राजसत्ता और एक सती के शील का प्रश्न था। एक उन्मत्त और मदांध राजकुल ने नारी का अपमान किया था, यह बात उनसे युद्ध लड़ने का एक पर्याप्त कारण थी। दुर्योधन अन्यायी था। सिंहासनासीन था। अतः जब तक अन्यायी को सिंहासनच्युत नहीं किया जाता तब तक महा हिंसा कैसे रुक सकती थी। दुर्योधन जैसे अन्यायी के सामने अच्छे-भले महारथियों की कुछ नहीं चलती थी। इसका कारण समझाते हुए श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाया कि जो लोग अपने गुण-दोषों को परखने से मुक्त नहीं होते, उनका सत्य संगठित नहीं हो सकता। उनके मतानुसार संकल्प ही कर्म को जन्म देता है और यही उसका पोषण करता है। अतः या तो संकल्प की शुद्धि करनी चाहिए अथवा हीन संकल्प को निर्वीर्य किया जाना चाहिए। उन्होंने धौम्य से स्पष्ट कहा कि कुरुक्षेत्र का युद्ध सच पूछें तो उनके और कौरवों के पुरोहित कणिक मुनि के बीच का युद्ध है : क्योंकि धौम्य की मान्यता और शिक्षा थी कि बल सत्याश्रित है, जबकि कणिक मुनि की मान्यता और शिक्षानुसार सत्य बलाश्रित है।

श्रीकृष्ण युद्ध के लिए उत्साही नही थे, अपितु अन्याय निवारण के लिए उत्साही थे। तभी तो वे नि शस्त्र थे, पर निष्पक्ष नहीं। एक समय उन्होंने

कृष्णा की लाज बचाई थी, लेकिन फिर से अगर वही काम वे करें तो उसमें उनके पतियों का क्या गौरव? उस समय वे धर्म-दास थे, इसलिए दौड़े आए। इससे उनकी महिमा मे वृद्धि हुई, पर पांडव का तेज नष्ट हुआ, यह उन्हें पसंद नहीं आया। वे चाहते थे कि कुरुक्षेत्र का युद्ध हो और उसमें पांडव विजयी हों। वाक्-छल के द्वारा दुर्योधन ने अज्ञानी होने की बात की और पांडवों का मन पिघलाने की प्रवृत्ति शुरू की तब श्रीकृष्ण ने सुलह कर्त्ता सजय को साफ-साफ सुना दिया कि अज्ञान की ओट में अगर अत्याचार को चलने देगा तो सृष्टि हर्गिज नहीं चलेगी। भीष्म और द्रोण जैसे बुजुर्गों के हृदय को टटोलने तथा युधिष्ठिर और अर्जुन के हृदय को युद्ध के लिए दृढ़ बनाने हेतु वे बुलाये बगैर स्वय चला कर कौरवो के सामने सुलह कराने गए। यही नही, कर्ण से भी सलाह-मशविरा किया। उन्होंने स्वहित को समझे बिना कौरवों का साथ देने वाले तक्षक और चित्ररथ को समझाने के लिए तपती को सुलहकर्त्ता बना कर भेजा। युद्ध में जब अर्जुन भीष्म के सामने स्नेह के कारण ढीला पड़ने लगा तब नि:शस्त्र रहने की प्रतिज्ञा के बावजूद उन्होंने शस्त्र हाथ मे उठा लिया तथा भीष्म, द्रोण, जयद्रथ और कर्ण का युद्ध में वध करने के लिए अर्जुन को प्रेरित किया। युद्ध में अनाथ बालाओं को उन्होने युधिष्ठिर के हाथों सौंपा और राजधर्म समझाया। उत्तरा के मरणासन्न पुत्र को जीवनदान देने के लिए उन्होंने अपने न्याय-धर्म की दुहाई देते हुए ईश्वर से दुवा माँगी और आर्यों-अनार्यों की एकता व मैत्री को साकार करने के लिए तपती-तक्षक और माधवी-सुभद्र की विवाह-घटना को आशीर्वाद दिया।

कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरवों और पांडवों के बीच कैसा युद्ध हुआ, इसका उपन्यास के अमुक प्रकरण में चित्रात्मक शैली में हूबहू निरूपण हुआ है। बात यह नहीं है कि यह कितना दारुण और विनाशकारी था, बात यह है कि किन कारणों से लड़ा गया था, उसके मूल में क्या था तथा श्रीकृष्ण जैसे न्याय धर्म के गोप्ता की उपस्थिति में किस तरह वह धर्मयुद्ध बना, यह बात कथाकार के ध्यान-वर्तुल में मौजूद है। इसलिए कुरुक्षेत्र जैसे महा विनाशकारी युद्ध की तरफ ले जाने वाली अंतर-विग्रह की घटनावली; उन्मत्त, खल, मदांध राजसत्ता द्वारा पाचाली (प्रजा?) की शील अवमानना होने पर अपमान का पलीता, अन्याय-अधर्म को रोकने के जिम्मेदार लोगों की निष्क्रियता तथा न्याय धर्म के इच्छुकों-संरक्षकों की सक्रियता आदि

प्रसगो का यहाँ निरूपण हुआ है। कथा की मुख्य बात के साथ जुड़ी घटना तथा पात्रों की सृष्टि, संयोजन और आलेखन में कथा-सर्जक के रूप में लेखक के कौशल का हमें परिचय मिलता है। जितने कौशल से उन्होंने युद्ध मे हुए रक्तपात और दुष्टता-धूर्तता का निरूपण किया है, उतनी ही सर्जकता के साथ तपती जैसी मुग्ध यौवना के प्रथम प्रणय और माधवी जैसी नटखट युवती की मौज-मस्ती का आलेखन किया है। लेखक की सर्जकता का प्रमाण हमें उपन्यास की सृष्टि में जो विविध प्रकार के और स्तरीय सघर्षो का आलेखन हुआ है, उससे मिलता है। एक तरफ तक्षक के प्रति उत्पन्न प्रेम, दूसरी तरफ माता की असम्मति और तीसरी तरफ शिक्षण-सस्कार को भूलकर वैर भाव से उपवन को जलाते हुए उसका (तपती का) अपहरण करने को उत्सुक तक्षक के प्रति भाव-द्विधा—इन सब से तपती के मन मे एक भाव-युद्ध पैदा होता है। एक तरफ माता का मनोरथ, दूसरी तरफ पिता की मान्यता और आज्ञा तथा तीसरी तरफ तपती का निर्व्याज प्रेम! इन तीन चरम स्थितियो से तक्षक के मन में जो झझावात उठता है, वह कोई मामूली झझावात नहीं है। एक तरफ ऐसी व्यग्रता कि पुत्र को संस्कार और संयम का स्पर्श मिले, दूसरी तरफ पुत्र को आर्यो के कुलगुरु के पास विद्याध्ययन के लिए भेजने की पति की अनिच्छा, तीसरी तरफ कुलाघात से भी पुत्र द्वारा बड़ा अपराध करके अपनी अपात्रता सिद्ध कर देने के बावजूद उसी के संग विवाह करने का निश्चय कर बैठने वाली गुरुपुत्री तपती को ऐसा करने से रोकने मे अशक्तता—चिंतामणि के मन में मचा घमासान भी मामूली नहीं था। पूरे शक्तिवान और सामर्थ्यवान होते हुए भी जो युद्ध और उसके परिणाम को नहीं रोक सके, तथा न्याय और धर्म की धुरी पर दृढ़ रहते हुए और वाणी-व्यवहार दिखाने का जिन्होंने असिधाराव्रत पालन करने के बावजूद गांधारी के शाप का पालन किया, ऐसे श्रीकृष्ण के जीवन में विद्यमान करुण-वक्रता को कथाकार ने अत्यंत तीक्ष्णता के साथ उभारा है। पात्रों के चित्त में चलने वाले ऐसे कुरुक्षेत्र का निरूपण पाठकों को अत्यन्त आस्वाद्य लगेगा। लेकिन उपन्यास के पाठकों को सबसे अधिक स्पर्श करेगी कथा में आई तीन माताओं की भूमिका। परिवारों, प्रजाओं और सिद्धांतों के बीच के द्वेष-वैर तथा युद्धों की समस्या अंततः माताओं के पास ही तो पहुँचती हैं। सुवर्णा, चिंतामणि और गांधारी—क्या कुछ झेलती हैं, क्या-कुछ सहन करती हैं, कितनी पीड़ित होती हैं, कितनी कटती हैं, यह सब दिखाने में

लेखक रंच मात्र नही चूके हैं, और चूके भी क्यो? इन्हे लेकर लेखक एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण सत्य की ओर इंगित करना चाहता है। इन माताओ का पात्रों की मातृभूमि (Motherland) के प्रतीकात्मक संदर्भ मे विचार करने पर अर्थ समझ में आएगा।

लेखक ने वस्तु-निरूपण के निमित्त इस कथा में एक विशेष पात्र को कथा कहने वाले के बतौर चुना है। सब जानते हैं कि महाभारत के युद्ध की कथा संजय के मुँह से कहलाई गई है, जबकि इस उपन्यास की कथावस्तु का प्रस्तुतीकरण ज्यादातर तपती के परिप्रेक्ष्य से हुआ है। संजय का हृदय पांडवों की तरफ था, पर उसकी निष्ठा कौरवों की तरफ थी। तपती की निष्ठा न पांडवों की तरफ है, न कौरवों की तरफ। वह तो अपनी सम्पूर्ण निष्ठा श्रीकृष्ण में केन्द्रित कर चुकी है। श्रीकृष्ण इस कथा के मुख्य पात्र हैं तो तपती प्रवक्ता (Protagonist) है। वह कोई राजनीतिज्ञ नहीं है वरन् प्रणय और कृपा के स्पर्श से स्निग्ध ऋषि कन्या है। इसी वजह से वह प्रत्येक व्यक्ति और घटना को अनाविल दृष्टि से देख लेती है। ऐसी एक युवती को महा विनाशकारी युद्ध की साक्षी बनाकर उसकी विशिष्ट नजर से जो वस्तु-निरूपण किया है, उससे 'दर्शक' की सर्जक के नाते विशेषता प्रकट होती है। एक धर्मात्मा युद्ध का संचालन करे और एक प्रेमात्मा युद्ध का हाल सुनाये, ऐसी योजना के पीछे लेखक का युद्ध के सम्मुख धर्म और प्रेम के समतुल्य बलों का संतुलन खड़ा करने का इरादा प्रकट होता है।

वैसे तो यह उपन्यास पौराणिक है, पर यहाँ पौराणिक कथा का पुनर्कथन मात्र नहीं है। कथा-वार्ताओं में से वर्तमान युग-संदर्भ में नया अर्थ घटित करके तथा उसमें से वर्तमान समस्याओ के समाधान हेतु मार्ग-दर्शन प्राप्त करते हुए ही पौराणिक उपन्यास लिखने चाहिए। 'दर्शक' ने इस उपन्यास में यही काम किया है। यहाँ उन्होंने खांडव वन दहन को आर्य-नाग जाति के संघर्ष के रूप में घटित किया है, तक्षक को सरिसृप नहीं अपितु नाग-युवक के रूप में देखा है और उसके विष को नाग जाति में प्रचलित विषयुक्त बाण-प्रयोग की धनुर्विद्या के रूप में अंगीकार किया है। पाँच पांडवों को पंच महाभूत और द्रौपदी को उसके प्राण के रूप में घटित किया है। कुरुक्षेत्र के युद्ध को उन्होंने धौम्य और कणिक जैसे भिन्न-दृष्टि पांडव-कौरव-पुरोहित की शिक्षा का परिणाम बताया है, श्रीकृष्ण को भगवान विष्णु का अवतार मानने के बजाय युग-पुरुष महामानव के रूप में लिया है।

वासुकि और चितामणि को आर्य-अनार्य ऐक्य के पुरस्कर्त्ता के रूप मे घटित किया है, भीष्म व द्रोण को असगठित अक्रिय बुजुर्गों के रूप में लिया है तो युद्ध को राजसत्ता के द्वारा प्रजा के अपमान के रूप मे देखा है। ये तमाम अर्थ-निष्पत्तियाँ लेखक की मौलिक है, अपनी है। ये जितनी मौलिक है उतनी ही तर्क-संगत और प्रस्तुत हैं।

परन्तु कदाचित किसी के मन में यह प्रश्न पैदा हो सकता है कि बीसवीं सदी के इस अंतिम दशक में लेखक ने पौराणिक कथानक वाला यह उपन्यास क्यो लिखा? इसका उत्तर यह है कि देश की वर्तमान परिस्थिति में हमारे समक्ष जो प्रश्न खड़े है उनमें मतिभ्रम कर देने वाली स्थिति है। ऐसे में हमें कुछ समाधान प्राप्त हो, ऐसा कुछ इस रचना के पीछे निहित उद्देश्य प्रतीत होता है। क्योकि कथाकार ने कथानक कुरुक्षेत्र का लिया है, परन्तु इनका मुख्य प्रतिपाद्य जाति-जाति के बीच के भेदभावों और अन्याय का निवारण करके उनके बीच एकता, संवादिता और न्याय-धर्म की स्थापना करने से सम्बद्ध है। आज राष्ट्र में सत्ता लोलुप राजनेताओं के द्वारा सदियों से हिल-मिलकर रहने वाली विविध कौमों-धर्मों-जातियों के बीच फूट डलवाने की जो पेंतरेबाजी चल रही है, इस कारण सवर्णों और दलितों के बीच की, हिन्दू-मुस्लिम-सिक्ख-इसाई लोगों के बीच की एकता और संवाद-प्रियता खतरे में पड़ रही है। इन सब के बीच द्वेष-वैर बढ़ रहा है, राष्ट्रीय सौहार्द्र का वातावरण बिगड़ रहा है, विश्वास, प्रेम और भरोसे की नाजुकता खड़ी हो रही है—ये सब बातें राष्ट्र को कुरुक्षेत्र जैसे अंतरविग्रह की तरफ धकेल रही है। जब ऐसी परिस्थिति विद्यमान है तो पौराणिक काल के ऐसे समय-संयोगों और घटना-प्रसगो का चित्र प्रस्तुत करके लेखक ने इस औपन्यासिक कृति मे जातीय एकता, साम्प्रदायिक सद्भाव तथा न्याय-धर्म (Rightious Welfare State) की संस्थापना का संदेश प्रदान किया है। हमारी वर्तमान राष्ट्रीय संवेदनाओं और समस्याओं के संदर्भ में इस उपन्यास की महत्ता और प्रासंगिकता विशेष रूप से बढ़ जाती है।

वस्तु और चरित्र की सृष्टि और संयोजन में, परिवेश और परिप्रेक्ष्य के चयन-प्रबंधन में, वस्तु के अवबोधन (Perception), विभावन (Conception) और प्रस्तुतीकरण की एकान्विति (Integration) में—इन सभी बातों में इस कृति में लेखक की शील और शैलीगत प्रौढ़ि और परिपक्वता दिखाई देती है। लेखक की अपनी कृतियों में तो निश्चय ही, पर

गुजराती साहित्य की औपन्यासिक कृतियों में तथा महाभारत व कृष्णचरित आधारित अन्य गुजराती कृतियों में भी अपनी गुणवत्ता की वजह से यह कृति सबसे आगे खड़ी रहने योग्य है।

— डॉ. नरेश वेद

व्याख्याता
सरदार वल्लभभाई पटेल विश्वविद्यालय
वल्लभ विद्यानगर (गुजरात)

हिम्मतलाल पारीख स्मृति सद्‌भाव न्यास

परिचय

गुजराती आप्रवासी श्री हिम्मत भाई ने सन् 1942 में बीकानेर आकर दवा-विक्रेता का काम प्रारम्भ किया था। वे पहले अध्यापक थे। भावनगर में अध्यापन कार्य करते हुए महात्मा गांधी के विचारों से प्रभावित होकर राष्ट्रीय संग्राम में एक सैनिक की भाँति जुड़ने तथा त्रस्त मानवता की सेवा करने का उन्होंने मानस बनाया। कुछ अर्से तक तो उनका कार्य क्षेत्र गुजरात ही रहा, लेकिन बाद में रोगों से ग्रसित मानव समुदाय की इस रूप में मदद करने के लिए वे दवा-विक्रेता बने। गुजरात के संतों, कवियों और विचारकों के सस्कारों से संस्कारित श्री हिम्मत भाई ने बीकानेर आकर स्वय को सिर्फ दवा-विक्रेता तक ही सीमित नहीं रखा। वे यहाँ के जन-जीवन के अधिकाधिक सम्पर्क में आते गए। हरिजन उद्धार, नशाबंदी, स्वास्थ्य एवं शिक्षा सबंधी चेतना के प्रसार के लिए वे सतत जन सम्पर्क करते रहे, एकाकी प्रयास करते रहें। उनकी सक्रियता अनेक दिशाओं में गतिमान थी।

चार दशकों से भी अधिक समय तक बीकानेर में रहते हुए श्री हिम्मत भाई ने नगर की अनेकानेक सामाजिक, व्यापारिक, व्यावसायिक, शैक्षिक-सस्थाओं में सक्रिय भाग लेकर लोगो की सहूलियतों और सुविधाओ के लिए अनेक कार्य किये। वे यथा नाम तथा गुण थे। अक्षय साहस और ऊर्जा के स्रोत थे। अपने आप में एक संस्था थे। नये-नये विचारों और कार्यक्रमों के योजनाकार और क्रियान्वयनकर्त्ता थे। मानवता उनका इष्ट और आराध्य केन्द्र रहा है।

सन् 1985 में उनके देहांत के बाद उनकी स्मृति को संजोये रखने तथा उनके द्वारा इच्छित जनोपयोगी कार्यों को अबाध जारी रखने की आवश्यकता स्थानीय नागरिकों ने अनुभव की। सौभाग्यवश हिम्मत भाई के पुत्रों और परिवार ने गहरी रुचि लेकर उनकी स्मृति मे इस न्यास की स्थापना की है।

उद्देश्य

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है न्यास का मुख्य प्रयोजन मानवता के मूल्यों को पोषित करना, उन्हे विकसित करना, दुखी मानवो की यथासंभव सहायता करना तथा शिक्षा एव सस्कृति के विकास मे सहयोग देना है।

न्यास के उद्देश्यो को तीन भागो में विभक्त किया जा सकता है 1. दीन-दुखियों की सेवा 2. शैक्षिक विकास तथा 3. साहित्यिक सांस्कृतिक विकास।

दीन-दुखियों की सेवा

- जरूरतमंद रोगियों के निमित्त दवाइयां एव भोजन उपलब्ध कराना।
- अस्पतालों के रोगियों को, विशेष रूप से केंसर और टी.बी. के रोगियों को मुफ्त भोजन/फल प्रदान करना।
- सार्वजनिक स्थानों पर पेयजल की व्यवस्था करना।
- गरीब एवं जरूरतमंद रोगियों के लिए दातव्य डिस्पेंसरिया, प्रसूतिगृह एवं रोग-निदान-केन्द्र खोलना।
- कुपोषण, महामारी या प्राकृतिक विपदा से ग्रस्त क्षेत्रों मे चिकित्सा सहायता पहुँचाना।
- अक्षम, अशक्त, पंगु व्यक्तियों को अपने पारिवारिक जीवन के निर्वहन हेतु छोटा काम-धधा शुरू कराना अथवा आर्थिक मदद देना।
- समय-पूर्व सेवानिवृत्त फौजियों के पुनर्वास में मदद देना।
- व्यक्तियों एवं संस्थाओं से दवाइया एवं उपयोगी उपकरण प्राप्त करना अथवा क्रय करना और उन्हें जरूरतमंद व्यक्तियों की मदद के लिए निजी व सार्वजनिक अस्पतालों, स्कूलों, क्लबों एव अन्य संस्थाओं को (यथा लायन्स क्लब, महावीर विकलांग समिति, ऐथलेटिक्स ऐसोशियेशन आदि) प्रदान करना।

शैक्षिक विकास

- पढ़ने के सुपात्र विद्यार्थियों हेतु छात्रवृत्ति की व्यवस्था करना।

- गरीब विद्यार्थियों को कम दामों पर किताबें-कापियां उपलब्ध कराना।
- स्कूल-कॉलेज के निर्धन विद्यार्थियों और अनाथालयों को मुफ्त पाठ्यपुस्तकें प्रदान करना तथा गरीब नेत्रहीन विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देना।
- दवा-विक्रय व्यवसाय मे संलग्न व्यक्तियो को उपयोगी व्यावसायिक ज्ञान प्रदान करना। दवा-विक्रेताओं एवं निर्माताओं के निमित्त शैक्षिक कार्यक्रम एव पाठ्यक्रम संचालित करना। औषध-विज्ञान महाविद्यालय तथा शैक्षिक सस्थाएं संचालित करना।
- औषध विक्रय व्यवसाय को गति देने के लिए शैक्षिक महत्त्व का साहित्य अथवा पत्रिकाएँ प्रकाशित करना।

सांस्कृतिक विकास

- समाजोपयोगी श्रेष्ठ पठनीय-मननीय साहित्य के मुद्रण-वितरण का दायित्व वहन करना।
- चिकित्सा औषध विज्ञान तथा साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों के उत्कृष्ट एवं अग्रगण्य विद्वानों के प्रस्तार भाषण आयोजित करना।
- अन्य भाषाओं के साहित्य का हिन्दी अनुवाद करवाकर उसे वितरित करने हेतु नि-शुल्क अथवा लागत मूल्य पर प्रकाशित कराने का प्रबंध करना।
- भारतीय भाषाओ के स्थानीय रचनाकारों को उपादेय सृजनात्मक साहित्य के प्रकाशन हेतु आर्थिक सहयोग प्रदान करना।
- सार्वजनिक कल्याण-कार्यों में संलग्न संस्थाओं को एकमुश्त दान अथवा सावधिक आर्थिक योगदान प्राप्त करना।
- न्यास के कल्याण कार्यों को अधिक व्यापक बनाने हेतु चेरिटी-शो, मेले तथा स्मारिका के माध्यम से विज्ञापन लेकर धन एकत्रित करना।

मनुभाई पंचोळी 'दर्शक' द्वारा प्रणीत

ग्रंथ-सूची

उपन्यास

1936 कब्रिस्तान, फूल छाब कार्यालय राणपुर पृ 192
1936 कल्याणयात्रा, वोरा एंड क मुबई, पृ 220
1939 बधन अने मुक्ति, सर्वोदय सहकारी प्रकाशन सघ लोक भारती सणोसरा, पृ 283
1944 प्रेम अने पूजा, भाग 1-2, सस्कार साहित्य मदिर भावनगर, पृ 350
1944 दीप निर्वाण, अक्षर भारती भुज, पृ 222
1946 बंदीघर, आर आर शेठनी क अहमदाबाद पृ 90
1952 झेर तो पीधां छे जाणी-जाणी भाग-1, आर आर शेठनी क अहमदाबाद पृ. 286
1958 झेर तो पीधा छे जाणी-जाणी भाग-2, आर आर शेठनी क अहमदाबाद पृ 282
1974 सोक्रेटीस, आर आर शेठनी क अहमदाबाद, पृ 500
1985 झेर तो पीधां छे जाणी-जाणी भाग-3, आर.आर शेठनी क अहमदाबाद पृ. 478
1991 कुरुक्षेत्र, अक्षर भारती, भुज, पृ 200

नाटक

1934 जलियांवाला, सौराष्ट्र साहित्य मदिर, राणपुर, पृ 125
1935 1857, सौराष्ट्र साहित्य मदिर, राणपुर, पृ 166
1967 परित्राण, सर्वोदय सहकारी प्रकाशन सघ, सणोसरा, पृ. 78
1983 अंतिम अध्याय, आर आर. शेठनी क अहमदाबाद पृ 107
1995 गृहारण्य, सर्वोदय सहकारी प्रकाशन सघ, सणोसरा, पृ 96

विवेचन

1963 वागीश्वरी नां कर्णफूलो, आर आर शेठनी क अहमदाबाद, पृ 295
1972 मेघनी भींत्युने आज मारे भागवी, लोक मिलाप ट्रस्ट भावनगर, पृ 57
1985 मंदारमाला, आर आर. शेठनी के अहमदाबाद, पृ 318
1992 गोस्वामी तुलसीदास, सरदार पटेल युनिवर्सिटी, वल्लभविद्यानगर, पृ. 109

चरित्र

1953 सोक्रेटीस, परिचय ट्रस्ट, मुबई, पृ 32
1955 त्रिवेणतीर्थ, अक्षरभारती, भुज पृ 166
1956 भगवान बुद्ध अने तेमनो धर्म संदेश, सस्कार साहित्य मंदिर भावनगर पृ. 60
1961 नानाभाई, आर.आर शेठनी क. अहमदाबाद, पृ 92
1969 मारी वांचनमाला, एन एम त्रिपाठी, प्रा लि मुबई, पृ 144
1969 अपरिग्रह (गांधी जीवन प्रसंग)
1979 टॉलस्टॉय परिचय ट्रस्ट मुबई, पृ 32
1987 चेतो विस्तार नी यात्रा, आर आर शेठनी क अहमदाबाद, पृ. 414
1989 सद्भि संग आर.आर. शेठनी क अहमदाबाद, पृ 414

...तीर्थ, आर.आर. शेठनी क. अहमदाबाद, पृ. 272,

1990 हमणांस, आनंद प्रकाशन मंदिर, दांडी, पृ. 51

निबंध· इतिहास

1953 आपणो वारसो ने वैभव, सर्वोदय सहकारी प्रकाशन संघ, सणोसरा, पृ. 143

1973 इतिहास अने केळवणी, सर्वोदय सहकारी प्रकाशन संघ, सणोसरा, पृ. 260

1973 इतिहास बोध, सर्वोदय सहकारी प्रकाशन संघ, सणोसरा, पृ. 111

धर्म

1959 धर्म चक्र प्रवर्तन, जीवन निर्माण अकादमी भुज पृ 78

1956 मंगल कथाओ (जातक कथाओ) सस्कार साहित्य मंदिर, भावनगर

1978 महाभारत नो मर्म सहकारी प्रकाशन संघ लि., सणोसरा, पृ 104

1983 रामायण नो मर्म, आर.आर. शेठनी क अहमदाबाद, पृ 86

1990 मध्य महाभारतम्, जमनाबाई नारसी ट्रस्ट मुंबई, पृ. 101

1990 वंदना, आर आर शेठनी क अहमदाबाद, पृ 122।

1993 भारतीय सस्कृति मां भरती अने ओट, अक्षर भारती, भुज, पृ. 26

राजनीति

1945 बे विचारधारा, सस्कार साहित्य मंदिर, भावनगर, पृ. 239

1973 लोकशाही, बाल गोविंद प्रकाशन अहमदाबाद, पृ. 138

1982 राजकरण मा व्यवहार अने सरदार, सरदार वल्लभभाई पटेल मेमोरियल सोसाइटी, अहमदाबाद, पृ 32

1983 राजनीति मां व्यवहार, सरदार वल्लभभाई पटेल मेमोरियल सोसाइटी, अहमदाबाद, पृ. 36

1987 राज्य रंग श्रेणी भाग 1 से 10, आर.आर. शेठनी कं अहमदाबाद

शिक्षण-गाँधी विचार

1956 डेन्मार्क नी लोकशाळा अने तेनो फलितार्थ

1957 नई तालीम अने नवविधान भाग 1-2, बालगोविंद प्रकाशन, अहमदाबाद पृ 313

1959 पायानी केळवणी, परिचय पुस्तिका ट्रस्ट, मुंबई, पृ 32

1963 सर्वोदय अने शिक्षण, भाग 1-2, बालगोविंद प्रकाशन, अहमदाबाद, पृ. 174

1973 शांति ना पाया, बालगोविंद प्रकाशन अहमदाबाद, पृ. 148

1989 गांधी मार्ग, आनंद प्रकाशन मंदिर, दांडी, पृ. 51

1982 त्रण व्याख्यानो (बाळ केळवणी विषे), तारा बेन मोडक जन्म शताब्दी महोत्सव समिति, राजकोट, पृ 32।

प्रवास

1993 देश विदेश, ऐन. ऐम त्रिपाठी, मुंबई, पृ 382।